नोट्स

उनके अनुयायी भी हजारों की संख्या में हैं। पाबूजी को कुटुम्ब के देवता के रुप में पूजा जाता है और उनकी वीरता के गीत चारण और भाटों द्वारा गाए जाते हैं। मारवाड़ के भोपों ने पाबूजी की वीरता के सम्बन्ध में तूंकड़ों लोकगीत रच डाले हैं और पाबूजी की शौर्यगाथा आज भी लोक समाज में गायी जाती है। एक खास कविता, जो पाबूज के भोपों के नाम से जाना जाता है। उन्होंने पाबूजी की फड़ के गीत को अभिनय के साथ गाने की एक विशेष शैली विकसित कर ली है।

पाबूजी की फड़ लगभग ३० फीट लम्बी तथा ५ फीट चौड़ी होती है। इसमें पाबूजी के जीवन चरित्र शैली के चित्रों में अनुपात रंगों एवं रंग एवं फलक संयोजन के जरिए प्रस्तुत करता है। इस फड़ को एक वांस में लपेट कर रखा जाता है, और यह भोपा जाति के लोगों के साथ धरोहर के रुप में तथा जिविका साधन के रुप में भी चलता रहता है। पाबूजी की दैवी शक्ति में विश्वास करने वाले लोग प्रायः इन्हें निमंत्रम देकर बुलाते हें। क्योंकि वे जानते हैं कि इससे उनके बाल-बच्चों की बीमारियाँ तथा परिवार की भूत-प्रेत जैसी बाधाएँ दूर हो जाएँगी।

पाबूजी के अलावा दूसरी लोकप्रिय फड़ "देवनारायण जी की फड़' है। देवनारायण जी भी सोलंकी राजपूतों के पाबूजी की तरह वीर नायक थे। देवनारायण जी की फड़ के गीत, देवनारायण जी के भोपों द्वारा गाएं जातें हैं। ये भोपे गूजर जाति के हैं। "जन्तर' नामक प्रसिद्ध लोकवाद्य पर "भोपा' इस फड़ की धुन बजाते हैं। राजस्थान में भोपों के कई प्रकार हैं।

वे प्रायः "रावण हत्था' अपंग तथा जन्तर नामक वाद्यों का प्रयोग करते हैं। ये भूमिहीन होतें है और अपनी जीविका के लिए उन्हें फड़ो के दरसाव पर ही निर्भर रहना पड़ता है। प्रतिवर्ष विजय दशमी (दशहरा) के मौके पर रोणीचा के पास कोड़मदे गाँव में एक बड़ा मेला लगता है। यह पाबूजी का मूल स्थान है। यहाँ आकर भक्तगण हजारों की संख्या में उन्हें श्रृंदाजलि अर्पित करते हैं। इस मौके पर हजारों फड़ गायक भी एकत्र हो जाते हैं और सब मिलकर सामूहिक रुप से पाबूजी की गीत गाते हैं।

लीला – लीला का कथा पुराणों या पुराख्यानों से ली जाता है। इन्हें "रासधारी' और "गरासियों' की श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इन लीलाओं में धर्म और लोकाचार की प्रधानता होती है। आज के जमाने में इस लोकनाट्य को करने वाले दल मण्डल बहुत सीमित संख्या में रह गये हैं, जो बचे-खुचे दल या मण्डलियां हैं वे रामलीला या सिर्फ 'रासलीलाएँ' ही करते हैं।

नौटंकी – भरतपुर तथा धौलपुर में नत्थाराम की मण्डली द्वारा नौटंगी का खेल दिखाया जाता है। इसके अलावा अन्य अखाड़े भी हैं। ये अखाड़े अपनी-अपनी कम्पनियों के निजी नाम से जाने जाते हैं। नौटंकी के नाटकों के रुप में बहुत ही लोकप्रिय है और प्रायः ब्याह, शादी, सामाजीक समारोह, मेलों तथा लोकोत्सवों के मौके पर प्रायः नौटंकी का खेल करवाया जाता है।

भवाई – गुजरात की सीमा से सटे हुए राजस्थान के क्षेत्रों में "भवाई' नामक नृत्य नाटिका बहुत ही लोकप्रिय है। अपने स्वभाव से ही यह नृत्य नाटक व्यवसायिक कि का है और अनेक महत्वपूर्ण तकनीकी पक्ष है। "भवाई' करने वाले अपने "यजमानों' या सरक्षकों के पास प्रतिवर्ष जाते हैं और उनका वहाँ हार्दिक स्वागत होता है।

इस शैली पर आधारित तथा एक नाटक "जस्मा ओडन' है, जिसे भारत के बाहर लंदन व जर्मनी में

नोट्स

खेला गया। यह नाटक शान्ता गाँधी द्वारा लिखा गया। इसके उल्लेखनीय पक्ष निम्नांकित है –

(१) सगाजी एवं सगीजी के रुप में भोपा-भोपी कुछ अन्य विनोदी, विदूपक चरित्रों के साथ इस नाट्य को सम्पन्न करते हैं। इसका संचालन सूत्रधार करता है।

(२) इसकी कथा आम आदमी के संघर्ष से सम्बन्धित है यह उच्च व निम्न वर्ग के वर्ग संघर्ष को बताता है।

उपर्युक्त लोकनाट्य रुपों के अलावा राजस्थान में कल्पिय रंगमचीय लोक नाट्य तत्वों का भोपाओं तथा तत्सम्बधी जनजातियों के कुछ व्यक्ति विशेषों में प्रर्दशन, कुटुम्ब परम्परा के रुप में भी देखने को मिलता है। इनमें कुछेक रासधारी है, कुछ बहरुपीये तथा भाण्ड है।

भोपा – भोपे पेशेवर पुजारी होते हैं। उनका मुख्य पेशा किसी मन्दिर में देवता के आगे नाचना-गाना होता है या फिर ये भोपें अपने संरक्षकों (धाताओं) के दरवाजे पर जाकर भी अपना पेशेवर गाना व नृत्य दिखाते हैं। गाना, बजाना, नाचना आदि के साथ विविध प्रकार के नटबाजी के करतब भी ये भोपो लोग दिखाया करते हैं। ये अतिरिक्त कार्य उन्हें अपनी रोजी-रोटी को कायम रखने के लिए ही करना पड़ता है। ये अपनी-अपनी कला में माहिर होते हैं और अपने देवता के प्रति उनमें अगाध श्रृद्धा होती है तथा वे अपने देवी-देवता की दैविक व चमत्कारी शक्ति में ही विश्वास करते हैं।

पाबूजी व रामदेव जी की भोपों का विवरण तो पहले दिया जा चुका है, दूसरें प्रकार के भोपे निम्नांकित हैं –

(१) गोगा जी का भोपा – छठी शताब्दी में दद्रेना के ठाकुर गोरखनाथ के चेले हो गए। यह ठाकुर बहादुर वीर नायक थे तथा उन्होंने आक्रामणकारियों के विरुद्ध तृंकड़ो गायों व गरीबों की रक्षा करके हत्या से बचाया था। तभी से इनकी पूजा महान संत के रुप में होने लगी। तबी से गोगाजी के भोपे गौ, ब्राह्मण रक्षा के सम्बंध में किए गए गोगोजी के शौर्यपूर्म कार्यों की गाथा गाते आ रहे हैं। ये भोपे "डेरु' नामक वाद्ययंत्र बजाते हैं। और उँगली या छोटी से लकड़ी पर पहले अपने वाद्य के रुप में वजाई जाने वाली थाली (जो प्रायः कांसे की होती है) को तेजी से घुमेते है। फिर ऊपर हवा में उछाल कर वापस लकड़ी पर या उँगली पर थाम लेते हैं। देखने योग्य बात यह है कि सब नृत्य गान की चलती हुई लय ताल में ही होता है। ये भोपे नृत्य गान प्रायः समूह में ही करते हैं। भोपाओं का मुखिया, जिसके देवता घट में आया हुआ माना जाता है। नाचते और गाते वक्त ही अनेक सांपों को अपने गले में लपेटता उतारता रहता है। गोगामेड़ी में भाद्र या भादरा (बीकानेर) नामक स्थान पर हर वर्ष गोगाजी का मेला गोपाष्टमी के अवसर पर लगता है। इसमें हजारों की तादाद में श्रृद्धालु भक्ति की भीड़ जमा होती है। जो गोगाजी के प्रति अपनी श्रृद्धा अपंण करने आते हैं। उनके नृत्य आनन्दातिरेक के नृत्य हुआ करते हैं। ये "माठ' नामक ढोल की ध्वनि के साथ नाचते गाते हैं। इस विशाल "माठ' नामक ढोल की ध्वनि के साथ नाचते गाते, अपनी रंगीन वेशभूषा में सजे ये भोपे, एक अभूतपूर्व नजारा प्रस्तुत करते हैं। भोपों की मुद्राएं बी नटबाजी के करतबों पर टिकी होती है। इनके गानों में भक्ति का स्पर्श होता है और ये गीत असीम श्रृद्धा व भक्ति भाव से गाए जाते हैं।

(२) माता जी का भोपा – ये भोपे माता जी के भक्त पुजारी होते हैं। ये करणीमाता तथा सीकर की

नोट्स

जीणमाता की चमत्कारपूर्ण दैविक शक्ति में आस्था रखते हैं। इन भोपों की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ये दूल्हे की वेशभूषा पहनते हैं। अपने नट करतबों को करते हुए ये यदाकदा अपनी जीभ में सुई तक घुसेड़ देते हैं। ये जीणमाता एवं करणीमाता के मेलों के अवसर पर सामूहिक रुप से एकत्र होते हैं।

(३) भैरूंजी का भोपा – ये भैरु जी के पुजारी होते हैं। इनकी वेशभूषा साधारण होती है। ये अपनी वेशभूषा में साधारम तेल उड़ेल देते हैं, ताकि वे चिकने दिख सके। वे अपना चेहरा राख से पोत लेते हैं और अपने माथे तथा चेहरे पर बहुत सारा सिन्दूर भी लगा लेते हैं। और अपने हाथ में त्रिशूल धारण कर लेते हैं। और "मश्क का बाजा' नामक वाद्य मुँह से बजाते हैं। ये समूह में नृत्य नहीं करते हैं।

रासधारी – रासधारी का सामान्य अर्थ है वह व्यक्ति जो रासलीला करता है। जो भगवान कृष्ण के जीवर चरित्र पर आधारित होती है। परन्तु कलाकार में इस लोकनाट्य में अनेक और कथाएँ भी जुड़ गयी। सबसे वहला रासधारी नाटक लगभग ८० वर्ष पहले मेवाड़ के मोतीलाल जाट द्वारा लिखा गया। रासधारियों की लोक नृत्य नाट्य शैली ख्याल एवं अन्य लोक नाट्यों से सर्वथा भिन्न है। यह विशिष्ट शैली उदयपुर तथा आस-पड़ोस के क्षेत्रों में भी आज प्रचलित है और सम्पूर्ण इलाके में इसका प्रसार है। इसके मुख्य रसिया, बैरागी साधु लोग है।

मूल रुप में "रसधारी' लोक नृत्य नाटिका ही थी, जिसमें रसियों के अलावा सभी उपस्थित जन प्रसन्नतापूर्वक भाग लेते थे। परन्तु धीरे-धीरे यह खास पेशे के लोगों की धरोहर हो गया। जिन्होंने इसे अपनी जीविका निर्वाह का आधार बना लिया और इन्हीं लोगों ने व्यवसायिक आय का साधन बनाने के लिए अपनी मण्डलियाँ तथा समूह बना लिए।

अन्य लोक नृत्य नाटिकाओं से रसधारी विद्या अनेक दृष्टियों से भिन्न है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि इसमें किसी अखाड़े या मंच के निर्माण की जरुरत नहीं होती। रास में मुख्य कथाएँ रामसीला, कृष्णलीला, हरिशचन्द्र नागजी व मोरध्वज की ही हैं। गाँव के चौराहों पर रासधारी नाटक देखने को मिलते हैं। लोग सैकड़ों की भीड़ में देखने के लिए इकट्ठे होते हैं। गीत प्राय: अनलिखे होतो हैं और रसियों को मौखिक याद होते हैं। नृत्य व गीत गाते हुए सारी कथा व्याख्यान कर दी जाती है। गाँव के लोग इस नृत्य नाटिका को मुफ्त में देखते हैं। ग्रामीण समाज ही इनके रहने, खाने-पीने आदि की व्यवस्था करता है व पारिश्रमिक भी देता है। किन्तु अब यह लोक नृत्य नाटिका की विद्या लुप्त होती जा रही है।

बहरुपिये – सारे राजस्थान में बहरुपिये मिलते हैं। ये अपना रुप और अभिनय आदि चरित्र के अनुसार बदलने में माहिर होते हैं। अपने "मेकअप' और वेषभूषा की सहायता से वे प्राय: वही लगने लग जाते हैं, जिसके रुप की नकल वह करते हैं। किसी गाँव में आ जाने पर वे बहुत दिनों तक बाल-वृद्ध, नर-नारियों का मनोरंजन करते रहते हैं, ये प्राय: शादी-ब्याह या मेलों के अवसर पर गाँव में पहुँचते हैं। ये अपनी नकलची कला में दक्ष होते हैं और ये गाँव के धनी-मानी लोगो की नकल करते रहते हैं। गाँव के बोहरा, शेठजी, बनिया आदि इनके मुख्य जीवन पात्र हैं। बहरुपिया की कला राजस्थान की अपनी विशेष कला है।

किन्तु आज के विकसित तकनीकी समाज में इनका प्रभाव लगातार घटता ही जा रहा है। इस विलुप्त प्राय: कला का सबसे नामी कलाकार केलवा का पशुराम है। जानकीलाल बहरुपिया भी राजस्थान

नोट्स

में प्रसिद्ध है और उसने भारत उत्सवों में राजस्थान का प्रतिनिधित्व भी किया है।

भाण्ड - राजाओं के काल में भाण्ड मण्डलियाँ राजस्थान में बहुत अधिक लोकप्रिय थी। ये राजा महाराजा तथा सामन्तों द्वारा संरक्षित थे। जयपुर, कोटा, बूंदी, झालावाड़ तथा उदयपुर में अब तक भी भाण्ड मण्डलियाँ मौजूद हैं। अब तक वे सिर्फ शादी-ब्याह तथा धनिक जनों की गोठों में ही दिखाई देती है। मनोरंजन के आधुनिक साधनों के विकसित हो जाने के बावजूद इन मण्डलियों की मनोरंजन की पारम्परिक क्षमता का कोई सानी नहीं दिखता, परन्तु अब बहुतों ने संगीत के वाद्यवृन्दों में नौकरी करली है। ये भाण्ड लोग राजाओं के जमाने में राजाओं के बहुत निकट के व्यक्ति हुआ करते थे।

पारसी थियेटर - इस शताब्दी के प्राथमिक चरण में हमारे देश में एक नये ही कि की रंगमंचीय कला का विकास हुआ, जिसका नाम "पारसी थियेटर' था। यद्यपि यह विवादास्पद है। परन्तु इस शैली के अधिकारी विद्वान यही मानते हैं कि इस शैली का विकास इंग्लैड में विकसित "शेक्सपीरियन थियेटर' से ही प्रभावित होकर हुआ। इस कला के विशिष्ट तत्व निम्नांकित हैं -

(१) अभिनेताओं द्वारा मुखमुद्राओं तथा हावभाव का व्यापक रुप से प्रर्दशन,

(२) नाटक का निश्चित कथात्मक स्वरुप

(३) बोलचाल तथा संवाद की एक खास कि की शैली।

पारसी थियेटर शैली ने तीसरे दशक में राजस्थान के रंगकर्मियों पर भी पूरा प्रभाव डाला। जयपुर और अलवर में महबूब हसन नामक व्यक्ति ने पारसी शैली के अनेक नाटक मंचित किये। उसने इस शैली में लिखे आगा हस्द कश्मीरी के अनेक नाटकों को खेला। व्यापक प्रभाव को जमाने वाले इन नाटकों को खेलने की दिशा में यह महबूब हसन का व्यक्तिगत प्रयास था, जिसे राजा-महाराजा तथा किन्हीं सामन्तों का आर्थिक संरक्षण भी न मिला। इसी कारण उसे इन नाटकों को टिकट लगाकर प्रदर्शित करना पड़ा। उन दिनों कुछ राज्यों में राजाओं द्वारा बनवाए गए उनके अपने थियेटर हुआ करते थे तथा उन्हें संचालित करने के लिए अलग विभाग इत्यादि होते थे और पारसी थियेटर पर राज्याश्रय से अलग काम की इन चेष्टाओं को देखकर यह स्पष्ट लगता है कि प्रदर्शन कलाओं (जैसे नृत्य नाटक आदि) का आयोजन निर्माण एवं निर्देशन स्वतंत्र रुप से भी किया जाना प्रारम्भ हो चुका था।

यहाँ यह अत्यन्त रोचक तथ्य है कि प्रदर्शन कलाओं के सुसंगठित विभागों की रचना बहुत पहले से ही होनी शुरु हो गई थी। राजा-महाराजाओं द्वारा पोषित कला विभागों एवं गुणिजन खानों के अलावा भी निजी तौर पर जनता के सहयोग एवं समर्थन से भी उन्हीं दिनों बहुत-सी कम्पनियाँ, मण्डल व थियेटर ग्रुप्स नाटकों का निर्माण करते थे।

जयपुर में राज्य द्वारा संचालित इस महकमें को "गुणिजन खाना' कहा जाता था। सवाई जयसिंह द्वितीय ने जब जयपुर राज्य की स्थापना की तभी से गुणिजनखाने को राजा की सीधी देख-रेख में उनके इस निजी विभाग की स्थापना हुई। इस गुणिजनखाने के महकमें के सम्बन्ध में मिलने वाले रिकार्ड में राजस्थान में सत्रहवीं व अठाहरवीं शती में प्रदर्शन कलाओं के संरक्षण एवं विकास का तथ्यात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत करने की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इन प्रदर्शन कलाओं को दो भागों में बांटा गया। एक "परम्परा' से सम्बन्धित तथा दूसरा "संस्कृति' से सम्बन्धित। परम्परा जो हमें पीढ़ी दर पीढ़ी की विरासत के रुप में मिलती है, उसमें "घरानों' का विशेष

महत्व होता है। जो कौटुम्बिक या उस्ताद की कलात्मक विशिष्टता का सम्मान, रक्षा तथा विकास करते हैं। पारम्परिक ज्ञान की जीवन्त श्रृंखला होने से परम्परा में गुरु-शिष्य, उस्ताद-शागिर्दों की भी अनिवार्य कढ़ी होती है।

उन्हीं के माध्यम से इस विरासत को लगातार आने वाली पीढियाँ प्राप्त करती हैं। यह ऐसी सीढ़ी होती है, जिससे प्रदर्शन कलाएँ अवतरित होती है। इन्हीं कलाओं का संस्कार तथा संशोधन "संस्कृति' के रुप में अभिव्यक्ति पाता है। जिसका सीधा अर्थ है विशुद्धीकरण तथा संस्कार। प्रदर्शन कलाएँ सदा से ही सांस्कृतिक परम्परा का अंग रही है। परम्परा के अन्तर्गत "घराना' वंशगत कला को द्योतक है। परन्तु साथ ही साथ, उस वंश से इस कला की शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति या समुदाय को भी इसी के अन्तर्गत पाया जा सकता है।

विभिन्न राज्यों में थियेटर रंगमंच की रचना हो जाने के फरस्वरुप, जैसा कि रामप्रकाश थियेटर की स्थापना जयपुर में होना तथा ऐसी ही अन्य रंगशालाओं, थियेटर भवनों का निर्माण झालावाड़ में होना और शनैः शनै इन प्रदर्शन कलाओं से सम्बन्धित, राज्याश्रेय से अलग, मंच प्रेमी आम जनता का हिस्सा लेना कम महत्व की बात नहीं है।

राज्याश्रय की पकड़ इन रंग भवनों पर ढ़ीली पड़ते जाने एवं जनता द्वारा व्यापक स्तर पर इनमें अपने कार्यक्रमों को सम्पन्न करने के प्रयास, रंगकर्मियों में उत्साहवर्द्धन का कारण भी रहा और उन्होंने उसी उत्साह में अनेक कि के नाटकों का मंचन इन भवनों में किया। एक समय ऐसा था जब पारसी थियेटर ने रंगमंच पर अपना पूर्ण अधिकार ही कायम कर लिया था। और यह वर्च उस समय तक लगातार बना रहा जब तक कि उसका स्थान "सिनेमा' ने नहीं ले लिया। फिर भी आज तक पारसी थियेटर का उपनगरों एवं छोटे नगरों में प्रभाव सिनेमा के बावजूद बना है।

राजस्थान में माणिकलाल डाँगी तथा कन्हैया ला पँवार पारसी थियेटर के विख्यात रंगकर्मी रहे। गणपतलाल डाँगी जो माणिकलाल के सम्बन्धी थे, वे इस परम्परा का १९९३ तक निर्वाह करते रहे। कन्हैया लाल पँवार ने सन् १९४२ में "शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी' में नौकरी कर ली और वहाँ उन्होंने राजस्थान की लोक कथाओं पर आधारित अनेक नाटक अभिमंचित किये। इनमें से कुछेक के नाम हैं, "रामू चनणाश, "ढोला मारु' तथा "चुनरीश।

वे राजस्थान लौट आए और उन्होंन वहाँ नाथद्वारा की "मरुधर थियेट्रिकल कम्पनी' में नौकरी कर ली। यहाँ उन्होंने "सीता वनवासश, "कृष्ण-सुदामा' तथा अन्य नाटकों में सक्रिय रुप से भाग लिया, उन्होंने बाद में अपनी खुद की एक कम्पनी कलकत्ता में स्थापित की जिसका नाम पँवार थियेटर था और वे अभी तक उसमें सक्रिय हैं।

सन् १९७७ में ए. प्र. सक्सेना, जो एक अच्छे अभिनेता है, ने खुद "यहूदी की लड़की' का अभिमंचन किया। यह नाटक आगा हस्न कश्मीरी का लिखा है। इसकी शैली पारसी थियेटर की है। इनके द्वारा पारसी थियेटर शैली को नयी अभिनय शैली के अनुकूल बदलने के भी छुटपुट प्रयास किए गए।

इसी दौरान आकाशवाली जयपरु ने भी मंच के कुछ कलाकार दिए और अनेक रेडियो नाटक यहाँ से प्रसारित हुए, जिनमें ओमशिव पुरी, सुधा, मोहन महर्षि, नन्दलाल, पिन्चू कपूर, गोवर्धन, असरानी आदि अनेक प्रसिद्ध रंगकर्मी कलाकार प्रकाश में आए।

नोट्स

१९५७ में राजस्थान सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की ताकि राज्य में संगीत, नाटक तथा अन्य रंगमंच पर प्रदर्शन योग्य कलाओं का पूर्ण विकास हो सके। उसी के अन्तर्गत नयी रंगशालाएँ राजस्थान में बनी। जिनमें रवीन्द्र मंच (जयपुर), भारतीय लोक कला मण्डल (उदयपुर) के भवन उल्लेखनीय हैं। देवीलाल सामर ने राजस्थान की लोक कलाओं तथा लोक नाट्य शैली के विविध रुपों को मंचित करने तथा प्रोत्साहित करने का एक संस्था के रुप में कार्य किया। इन्होंने लोक कला का एक संग्रहालय भी बनाया।

राजस्थान में रंगमचीय कला का सातवें व आठवें दशक में बहुत विकास हुआ। नेशनल थियेटर जाइन कर लेने के बाद ओमशिव पुरी एवं मोहन महर्षि ने जयपुर में नये नाटकों से सम्बद्ध कार्यशालाएं बनाई। इसके अलावा राजस्थान कर्मचारियों तथा निजी रंगकर्मियों के दलों ने भी नये नाटकों का मंचन किया, जिसमें हम्मीदुल्ला कृत दरिन्दे (सरताज माथुर द्वारा निर्देशित) तथा एक मुद्दा और (स्वयं हमीदुल्ला द्वारा निर्देशित) जयपुर में खेले गए। हमीदुल्ला को नाटकों के लिए राष्ट्रीय पुरष्कार भी मिले।

मणि मधुकर के नाटक "खेला पालेमपुर' तथा एस. गंधर्व भी काफी लोकप्रिय नाटक रहे, इनमें लोक तत्व एवं नयी शैली का समन्व्य मिलता है। इसी दौरान राजस्थान विश्वविद्यालय के "ड्रामा विभाग' में भानु भारती के निर्देशन में मृच्छ कटिका, जसना ओडना आदि नाटक किये गए। इस विभाग का संचालन इन दिनों विजय माथुर कर रहे हैं।

आधुनिक भारतीय रंगमंच की दृष्टि से जयपुर का अपनी विशिष्ट स्थान है। जयपुर में इस समय लिखे गए सभी आधुनिक नाटकों का मंचन हो चुका है। जयपुर रंगमंच की जो प्रमुख नाट्य प्रतिमाएँ हैं, उनमें सरताज माथुर, डी. एन. शैली, हमीदुल्ला, वासुदेव भट्ट, पृथ्वीनाथ जुत्सी, स्वर्गीय एच. पी. सक्सेना तथा एहतराम नकवी आदि के नामोल्लेख किये जा सकते हैं। रिजवान जिसने उस्मान के बहुत से नये नाटक लिखे हैं तथा स्वयं भी मंचित किए हैं।

जयपुर में हुए रंगमंचीय नाटकों के विकास का प्रभाव उदयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर में भी पड़ा और इन प्रदेशों में भी अनेक नये नाटकों का सफल मंचन किया गया।

रुपायन संस्थान बोरुन्दा में केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी के तत्वाधान में सुप्रसिद्ध रंगकर्मी हबीब तनवीर के निर्देशन में एक कार्यशाला का आयोजन कुछ दिनों पूर्व हुआ। इसमें रंगकर्म की लोकजन्य प्रवृतियों तथा उनका आधुनिक नाट्यलेखन शैलियों में रुपान्तरण पर लाभकारी विचार विमर्श हुआ। इसमें प्रदर्शन कलाओं के मुख्य अधिवक्ता कोमल कोठारी ने भी शिरकत की।

राजस्थान में नये नाट्य निर्देशक निर्माताओं में मंगल सक्सेना, रिजवान, जहीर उस्मान, कय्यूम अली बोहरा, मदनमोहन माथुर, अर्जुनदास चारण तथा राजनन्द आदि संस्थाबद्ध रुप में कार्य कर रहे हैं। जयपुर में त्रिमूर्ति, कला संगम, कल्चरल सोसाइटी ऑफ राजस्थान, राजस्थान सचिवालय क्लब, अभिसरिका, संकेत, अमेच्योर आर्टिस्ट एसोसिएशन रंगशाला, श्रुति मंडल मुख्य हैं।

इस प्रकार राजस्थान में रंगमंच की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, उसमें सुफल से ही नयी रंग प्रतिमाएँ दिनों-दिन प्रकाश में आती जा रही है। राज्य सरकार ने हाल में एक सांस्कृतिक विभाग की रचना की है, और ऐसी अपेक्षा है कि इस विभाग की मदद से राजस्थान की रंगप्रेमी जनता तथा रंगकर्मियों को समुचित प्रोत्साहन तथा सम्बल मिलेगा और राज्य सरकार प्रदेश में रंगमंचीय कला को लोकप्रिय बनाने

व प्रदर्शन कलाओं को लगातार सभी दृष्टियों से परिपुष्ट करने में अपनी महती भूमिका निभाएगी।

2.4 हमीदुल्ला के नाटकों में नारी

नारी एक अद्‌भुत रचना है। हवा, पानी, नदी, पहाड़, फूल अर्थात् दृश्य और अदृश्य जगत में सर्वत्र उसे देखा जा सकता है, उसे लिखा जाता है। वह स्वयं कविता है, नाटक है, उपन्यास है, महाकाव्य है, संगीत है, कला है। हिन्दी में नारी के विषय में बहुत लिखा गया है, कभी सीता, दोपदी, कुंती, तारा, मंदोदरी और कभी अहिल्या के रूप में। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में नारी को निश्चय ही गौरवपूर्ण स्थान दिया है और उसे देवी तथा लक्ष्मी के समकक्ष रखा है। यह उस समय की स्थितियों के ही अनुकूल था। ज्यों-ज्यों परिस्थितियों में परिवर्तन आता गया नारी के प्रति दृष्टिकोण में भी बदलाव आता रहा। प्रस्तुत शोध पत्र में हमीदुल्ला के नाटक में नारी के विभिन्न रूप पर विचार किया गया है।

प्रस्तावना

अतीत की नारी और सभ्य युग की नारी में बहुत अंतर है। शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान, अधिकार और समाज व्यवस्था के परिवर्तनों से नारी का रूप बदला है। आज की नारी उसी विकसित परम्परा का नवीनतम उत्कर्ष है। पहले नारी को घर की चार दीवारी के भीतर डाल दिया जाता था। प्राचीन काल से लेकर आज तक नारी को केवल शोभा और प्रदर्शन की वस्तु के रूप में ही देखा गया है। उसका शारीरिक और मानसिक शोषण होता रहा है। स्त्री स्वातंत्र्य न होने के कारण स्त्रियों का व्यक्तित्व विकृत हो गया और वह उपयोग की वस्तु बनकर रह गई। शिक्षा के प्रभाव, राजनीतिक चेतना और पँजीवादी सभ्यता ने नारी-जीवन को नए आयाम दिए हैं। इसके फलस्वरूप नारी का समाज सुधारक रूप अपनी स्वतंत्रता के प्रति सजग रूप उसकी बौद्धिक मानसिकता आदि प्रवृत्तियाँ उभर कर प्रस्फुटित हुई हैं।

साहित्य की सभी विधाओं में नारी को स्थान मिला है। अनेक लेखकों ने नारी की दशा में अपने लेखन का माध्यम बनाया है। साहित्य में नारी के शोषण की करुण दशा का यथार्थ चित्रण इनमें मिलता है। हमीदुल्ला भी उन लेखकों में से एक रहे हैं जिन्होंने अपने नाटकों में नारी की स्थिति, समस्याओं को सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया और नारी की दीन-हीन अवस्था से मुक्ति के लिए किए गए प्रयत्नों और सुधारों प्रकाश डाला है।

अनेक नाटकों में नारी पात्रों का चित्रण अत्यंत जीवंत एवं सजीव प्रतीत होता है। अपने रमणीय रूप और कोमल भावनाओं के कारण नारी सदा साहित्यकारों के आकर्षण का केन्द्र बनी है। जीवन और कला के अतिरिक्त वह काव्य में भी अनिवार्य स्थान रखती है। हिन्दी कथा साहित्य में नारी-जीवन की तत्कालीन ज्वलंत समस्याओं को अभिव्यक्ति देने का सार्थक प्रयत्न किया है।

आदिकाल में नारी चित्रण का उज्जवल पक्ष मुख्यत: दो रूपों में चित्रित हुआ है प्रथम वीरांगना रूप में तथा द्वितीय आदर्श सती रूप में मध्यकालीन काव्य के अन्तर्गत संतों एवं कवियों द्वारा चित्रित नारी प्राय: हीन रूप में. उपस्थित हुई है। रीतिकाल के काव्य में कवियों ने नायिका भेद वर्णन में विशेष रुचि दिखाई। हमीदुल्ला जी ने अपने नाटकों श्दरिंदेश, श्उलझी आकृतिया, 'हर बार', 'अपना-अपना दर्द' दूसरा पक्ष, जैमती, ख्याल भारमली आदि में नारी की अनेक समस्याओं को उजागर किया है।

नोट्स

बेरोजगारी और नारी शोषण

हमीदुल्ला कृत शहर बार नाटक में बेरोजगारी की गंभीर समस्या एवं उससे संबंधित ऐसी विकृतियाँ को उभारा गया है, जो हृदयद्रावक है। शोषण की क्रूर नग्नता को हर बार में व्यक्त किया गया है। युवतियाँ रोजगार की तलाश में अपनी अथाह शक्ति लगा देती है, लेकिन जब सपने टूट जाते हैं तब उन्हें अपने शरीर और आत्मा दोनों को ही दाव पर लगाना पड़ता है। इस नाटक में शंकिता और मध्यमा दो प्रमुख नारी चरित्र है। शंकिता आज के युवा वर्ग की प्रतिनिधि है, विशेषकर उन युवतियों के भाग्य की विडम्बनाओं को उजागर करती है, जो धन कमाने के लिए अनेक कठिनाईयों का सामना करती है। शंकिता को नौकरी मिलती है, पैसा मिलता है, किंतु अपना शरीर बेचकर कंपनी के विकास के लिए वह अपना शरीर सुलभ करती है। इसी कार्य हेतु उसे नौकरी पर रखा गया। कंपनी के स्वामी का दृष्टिकोण है "एवरी डे स्पेन्ट मस्ट बी फोरगोटन बट यू आर नोट एक स्पैन्ट फोर्स फौर अस युअर चारमिंग फीगर, लवली एपीयेन्स आल फोर अवर कम्पनी स्वामी शंकिता को अपने प्रमोशन के लिए इस्तेमाल करता है। वह उसे मिस्टर मलिक के पास भेजता है "गेट रेडी फोर दी सेकरीफाइस मिस्टर मलिक का पूरा ख्याल रखने का कीप हिम इन गुड हयूमर वो खुश होंगे। हमारा प्रमोशन होगा।" बेरोजगारी की भयावह मार ने शंकिता को अपना

सब कुछ न्यौछावर कर देने पर मजबूर कर दिया - "मैं एक वस्तु हूँ, जिसका अपना कुछ भी शेष नहीं है। लाश सा अचल जीवन मांस नोचते गिद्ध शून्य में भटकती जिन्दगी न रोशनी, न मंजिल, न रोशनी का निशान" शंकिता ने ठोकरें खाई, बांझ करार दी गई, परंतु वह रुकी नहीं क्योंकि उसमें ललक थी पैरों पर खड़ा होने की। वह अपने पैरों पर खड़ी भी हुई पर उसके साथ उसका शील अंग भी हुआ। इस नाटक में हमीदुल्ला ने बेकारी के दर्द को सीमाहीन एवं अनन्त पीड़ा के रूप में व्यंजित किया है।

पुरुष समाज द्वारा सदा से अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु स्त्री का शोषण किया गया है तथा उसके प्रेम, त्याग का गलत फायदा उठाया है और नारी को सदा घुट-घुट कर जीने को मजबूर किया है. दूसरा पक्ष में हमीदुल्ला जी ने शीला विशन के माध्यम से यही दर्शाया है। बिशन शीला से प्यार का नाटक करता है उसके बाद पैसे के लालच में शीला द्वारा लिखे गए पत्रों के माध्यम से उसे ब्लैकमेल करता है। उसे बदनाम करने की धमकी देता है, तथा उससे पैसे की माँग करता है "मुझे तुम्हारे पत्र लौटाने में कोई ऐतराज नहीं है पर तुम्हें उनकी कीमत चुकानी होगी सिर्फ दस हजार।"

आदिकाल से नारी जाति का शोषण होता आ रहा है। कभी दासी के रूप में, कभी बहू, कभी पत्नी के रूप में नारी की अपनी चाह की किसी को परवाह नहीं उलझी आकृतियाँ नाटक में जीवन की विवशताओं और बेरोजगारी के साथ ही सर्वव्यापी भ्रष्टाचार ने व्यक्ति को अपना अस्तित्व खो देने पर मजबूर कर दिया है। एक पति भी अपनी पत्नी को व्यभिचार के लिए मजबूर करने में संकोच नहीं करता। "हमारा अपना ठोस अस्तित्व विसंगत होकर टूट चुका है।

स्नेह और प्रेम जैसे पारस्परिक संबंध मूल्यविहीन हो गए हैं।" केवल अवसरवादिता के दर्शन ही हम आज के समाज में कर सकते हैं। विकास और बेला का रिश्ता भी कुछ ऐसा ही है जहा बैला, विकास के मध्य प्रेम संबंध नहीं है बल्कि एक समझौता है "हमारे संबंध एहसान और सहायता जैसे खोखले मूल्यों पर आधारित कभी नहीं रहे। जो कुछ भी हमने एक-दूसरे के लिए किया है वह केवल हमारे आपसी समझौते के कारण था।" विकास जैसे पदाधिकारी ऐसे प्रतीक हैं जो अपने पद का दुरुपयोग

कर मजबूर लोगों का शोषण कर रहे हैं। बैला पर गृहस्थी का सारा बोझ है। नौकरी करते हुए वह दूसरों की इच्छा पर चलने के लिए मजबूर है। नारी की इस दयनीय स्थिति को अभिव्यक्ति करते हुए कहती है "अभावों की दुनिया में मासूम लड़की सत्य और ईमान का दामन थामे चलती भी तो आखिर कब तक।"

पुरुष की कामुक प्रवृत्ति और नारी

ख्याल भारमली के माध्यम से नाटककार सदियों से होते आ रहे नारी के यौन शोषण को अभिव्यक्ति देते हैं। जिसकी प्रतीक है भारमली। भारमली नारी की आन्तरिक असहय वेदना, कुंठा, दैहिक-मानसिक शोषण, अत्याचार, युगों-युगों तक शोषित विवश नारी का प्रतिनिधि चरित्र बनकर उभरती है। भारमली एक दासी थी और उसकी संतान राजा का उत्तराधिकारी नहीं बन सकती थी इस कारण राजा भारमली को त्याग देते हैं। वह कहती है "यह तो नारी शोषण है। समवेत - स्वरसमय हमारा कर सकते हम जो भी चाहे तुम हो नीचे कुल की दासी हमारी हम चाहे तो तुम्हें अभी जिन्दा जलवा दें। भारमली राजा के बाद फिर छली गई स्वामी जी के द्वारा सभी उसके रूप पर मोहित रहे किसी ने उसकी पीड़ा नहीं देखी वह दर-दर भटकती रही "रूपवती रंभा, मेनका या उर्वशी, कहाँ की जन्मी? यहाँ हमारे पास आओ, सुन्दरी। आओ। इतना संकोच क्यों? किसलिए?"

दरिंदे नाटक में समाज के आध:पतन और स्त्रियों के शोषण का चित्रण है। जिसमें पशुओं को मनुष्य के समान तथा मनुष्यों को पशुओं के समान चेष्टाएं करते हुए दिखाया गया है। आधुनिक समाज में स्त्रियों की मर्यादा भी सुरक्षित नहीं है केवल भेड़ और भेडिए जैसी छीनाझपटी है।" दरिंदे में लेखक ने मेड-भेडिए को आधार बनाकर स्त्री के साथ हो रहे शोषण को चित्रित किया है।

इसी प्रकार अपना-अपना दर्द नाटक में नाटककार में दर्शाया है कि अभाव और मंहगाई ने माता-पिता के हृदय से वात्सल्य भाव को मिटा दिया है। अपनी बेटी मधु को आर्थिक संकट के चलते मामी के पास छोड़ देते हैं। घर का स्नेह और सुरक्षा की ललक उसे बिहारी के साथ रहने पर मजबूर करती है। पर यहाँ भी वह दरिन्दे बिहारी का शिकार बनती है। जो उसका उपयोग धन कमाने के लिए करता है, मधु वेश्या बन जाती है, धन कमाने का जरिया, और अन्ततः यह उसे घर से निकाल देता है। इसी स्तब्ध और शोकावस्था में उसे डॉ. वीरेन आश्रय देता है परन्तु यहाँ पर भी उसे धोखा मिलता है उसका उपयोग कर वीरेन अपनी पत्नी के लौटते ही उसे अनावश्यक बोझ की तरह हटा देता है। सबसे उपेक्षित सड़क के चौराहे पर बैठ मधु अन्ततः एक्सीडेंट से मर जाती है। नाटक के अंत में मधु के संवाद है "सड़क पर हर सवारी तेजी से गुजर जाती है। आदमी अंधे की तरह आखें झपकता रह जाता है। सब अपनी-अपनी सलीब ढो रहे हैं अपना-अपना दर्द। चारो और दरिन्दें हैं। परम्परा के प्रति विद्रोह

हमीदुल्ला जी ने नारी के शोषित रूप को दर्शाने के साथ-साथ अपने नाटकों में उसकी स्वतंत्र होने की चाह को भी उजागर किया है। एक ओर जहां नारी दबी कुचली जाती है वहीं दूसरी ओर उसी नारी में आधुनिकता का स्वर है। परम्परा के प्रति विद्रोह का भाव है। वह अपना जीवन अपने तरीके से जीना चाहती हैं। जैमती नाटक में जैमती परम्परा के अनुसार नहीं चलना चाहती। नाटककार ने जैमती का उपयोग एक सम्भ्रान्त स्त्री द्वारा विद्रोह करके, मनचाहा वर पाने और उस वर के साधारण, ग्रामीण मशक्कत भरे जीवन को अपनाने के लिए दिखाए गए साहस का यशोगान करने के लिए किया है। जैमती एक विद्रोहिणी हैं, जो वैभवशाली लेकिन बूढ़े और अशक्त राजा को पति के रूप में अस्वीकार कर देती है और जात-पात,

नोट्स

ऊँच-नीच की परवाह किए बिना एक हमउम व्यक्ति को पति के रूप में चुन लेती है। वह परम्परा को स्वीकार नहीं करती। बल्कि स्वच्छ जीवन जीना चाहती है। वह अपनी इच्छा से विवाह करना चाहती है जो कि परम्परा के विरुद्ध है वह स्वयं ब्राह्मण देवता को अपना टीका लेकर चौबीस बगडावत भाईयों में सिर्फ भोजा को देने कहती है "आपको राजा मेरा टीक लेकर कहीं भी भेजे आप टीका चौबीस बगडावत भाईयों में सिर्फ ओजा को ही देना।" वह अपनी इच्छा व्यक्त करती है कि अपना विवाह स्वयं अपनी इच्छा से करना चाहती है "सम्बन्ध मेरा हो रहा है, उनका नहीं। भोगना मुझे है उन्हें नहीं। हीरा "किन्तु पिता द्वारा किया गया सम्बन्ध? सामाजिक परम्पराएं--- जैमती "मैं उन्हें तोड़गी। अपना पति स्वयं चुनूंगी।"

एक अन्य नाटक ख्याल भारमली में नाटककार ने स्त्री को लीक से हटकर आगे बढ़ते हुए दिखाया है। भारमली जिसका शोषण राजा द्वारा किया जाता है और उपभोग के बाद उसे त्याग दिया जाता है, वह इसका विरोध करती है। वह चुप बैठने के स्थान पर अपनी आवाज उठाती है, और न्याय मांगती है। भारमली "दासी नहीं। मैं महारानी भारमली हैं। समवेत स्वर "यही भूल है। बनी रहो दासी बस दासीकैसे हो दासी, सकती हो रानी, तुम महलों की ? भारमली – "यह तो है अन्याय सरासर ।" वह स्वयं को दासी स्वीकार नहीं करती। वह अपना अधिकार मानती है राज्य पर और वहाँ बनी रहना चाहती है।

इसी प्रकार दूसरी स्त्री पात्र है उमादे उमादे भी सदा से चले आ रहे बहु पत्नी प्रथा का पालन नहीं करती। राजा के द्वारा आरमली को रानी स्वीकारने के बाद वह अपनी स्त्रीत्व और अपने अहं भाव की रक्षा हेतु राजा को छोड़कर अपने पिता के घर चली जाती है। वह राजा के साथ रहना स्वीकार नहीं करती। वह स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहती है इसलिए वह सब कुछ छोड़कर चली जाती है। हमीदुल्ला जी ने नारी के शोषण को चित्रित तो किया है उसके साथ ही उसको मुक्ति स्वतंत्रता का पक्ष भी लिया है। उनके सारे नारी पात्र पुरुष वर्चस्व के समाज के द्वारा शोषित हैं किन्तु कुछ चरित्र ऐसे भी हैं जो नारी अस्मिता की पहचान है।

हमीदुल्ला जी ने अपने समसामयिक जीवन से प्रभावित होकर, अपने आस-पास के वातावरण को अनुभव करके अपने नाटकों में स्त्री की दशा का चित्रण किया है। आज शिक्षा के कारण समानता के प्रति प्रशिक्षित स्त्रियों अधिकाधिक जागरुक होती जा रही हैं। उनका दृष्टिकोण तथा उनकी नैतिकता मान्यताएं इसी समानवादी विचारधारा से ओत-प्रोत होती जा रही हैं। आज स्त्री पुरुष के बराबर का दर्जा चाहती है।

2.5 'दुलारी बाई' और 'ख्याल भारमली' में लोकनाट्य शैली

भूमिका

लोकधर्मी नाटकों को नाट्य शैली विशिष्ट होती है। इन नाटकों में मुख्यतया श्लोक' से संबंधित नाट्य शैलियों का ही एक माहौल निर्माण होत: है। विशेष विवेच्य नाटक "दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" में जिन नाट्य शैलियों को प्रस्तुत किया गया है उनका समूचित विवेचन विश्लेपण करना इस अध्याय का उद्दिष्ट है।

लोकधर्मी नाटकों को नाट्य शैली विशिष्ट होती है। इन नाटकों में मुख्यतया श्लोक' से संबंधित नाट्य शैलियों का ही एक माहौल निर्माण होत: है। विशेष विवेच्य नाटक "दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" में जिन नाट्य शैलियों को प्रस्तुत किया गया है उनका समूचित विवेचन विश्लेपण करना इस अध्याय का

नोट्स

उद्दिष्ट है।

"दुलारी बाई" नाटक में मंगलाचरण का लोकनाट्यपरक प्रयोग दिखाई देता है। नाटक आँखों से देखा जाता है और हृदय से महसूस किया जाता है। नाटक रंगमंचपर खेला जाता है। आधुनिक युग में नाटक देखने के लिए दर्शकों को थिएटर में जाना पडता है।

अत: दर्शक सजधजकर नाटक देखने आते हैं। नाटककार मणि मधुकर ने इसका बडी बखूबी से मंगलाचरण में वर्णन किया है। रंगमंच की दृष्टि से दर्शकों का बहुत महत्व है।

नाटककार ने दर्शकों को "देव" की उपमा देकर उनके पधारने से पात्रों के भाग्य पर नाज किया है। दर्शक किस प्रकार आये हैं? इसका वर्णन करते हुए नाटककार ने उनकी वेशभूषा का वर्णन किया है। "दुलारी बाई" देखने के लिए दर्शकों मे से पुरुष धोती-कुर्ता, कोट-पेंट और टाई पहनकर आये हैं। स्त्रिया साडी-ब्लाऊज पहने आयी हैं। आज के दर्शक कामें में व्यस्त हैं।

फिर भी वे अपना काम-काज छोड कर नाटक देखने आये हैं। वे अकेले नहीं आये हैं, बल्कि उनके साथ उनके गोद में उनका बेटा तथा कांधे पर लडकी है। बगल में पत्नी बैठी है। आज के दर्शक सिगरेट बीडा खाने का शौक रखते हैं। अत: उनके होठों में सिगरेट और मुँह में पान का बीडा है। उनके आँखों पर चश्मा है। इस प्रकार दर्शक सज-धजकर नाटक "दुलारी बाई" देखने के लिए आये हैं। इन दर्शकों को "भाई-बहना" और "बाबूजी" कहा हैं। कलकारों की लाज बचाने की बिनती करते हुए नाटककार ने आगे कहा है कि खेल में यदि कुछ अच्छा लगे तो खूब तालियाँ बजाए। क्योंकि कलाकार तो भक्त है ईश्वररुपी दर्शको के।

यथा :

है भाई - बहना और बाबूजी, हमरी लाज बचाना
यदि कुछ अच्छा लगे खेल में, ताली खूब बजाना
हम तो भक्त तुम्हारे - दर्शक देव पधारे!

वास्तव में "मंगलाचरण" में भगवान की वन्दना की जाती है ताकि नाटक सफलतापूर्ण खेला जाय। लेकिन नाटककार मणि मधुकर ने आधुनिक युग में मंगलाचरण का प्रयोग विडम्बनात्मक रूप में किया है। भगवान से बढकर दर्शकों को नाटककार ने महत्व दिया है क्योंकि नाटक दर्शकों द्वारा नकारा या स्वीकारा जाता है।

"दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" दोनों लोकधर्मी नाट्य हैं। अत: इन नाटकों में सूत्रधार की भूमिका अनन्य साधारण है। सूत्रधार कभी कथा को आगे बढाने की व्याख्या करता है, कभी कथा को आगे बढ़ाता है, कभी व्यंग्य करता है और कभी पात्रों का चरित्र चित्रण करता है। इतना ही नहीं कभी स्वयं नाटक में किसी पात्र का अभिनय करता है।

"दुलारी बाई" नाटक में सूत्रधार और अभिनेत्री का प्रयोग इसीलिए किया है। सूत्रधार दुलारी का परिचय देता है। साथ-साथ आधुनिक राजनीति पर व्यंग्य करता है। कथा को आगे बढाने में सहायक साबित होता है। अभिनेत्री की भूमिका भी इसीतरह है। वह पात्रों को बताती है -

"देखो, अपनी नाट्य-मण्डली में कुल पांच जने हैं - एक, दो, तीन, चौथा वो सूत्रधार और पांचवा ..... जाने क्या नाम है उसका, लेकिन नाटक में पात्र कई हैं। मुझे तो शुरू से आखिर तक दुलारी बाई ही बने रहना है। तुम तीनों को तमाम पात्रों की एक्टिंग करनी है - नाम बदल कर - "6 इस नाटक में नौटंकी, बहुरुपिया (भांड) आदि लोकधर्मी नाट्यरूप पाये जाते हैं।

नोट्स

गायन मंडली द्वारा कृष्ण को दुलारी का संकट दूर कराने के लिए गीत गवाया है।

देखिए :

"हरे क्रिस्ना, हरे क्रिस्ना .....
क्या होगा दुलारी बाई का?
संकटमोचन! दूर करो अब, विपदा के सारे अंधेर
मंदिर के सामने से जूते उठाएं, ऐसे तो चोर बहुत रे
बेचारों की लाज बचा हरे क्रिस्ना ....
मोहन मुरारी भक्त तो तुझसे यह उम्मीद लगाएं
थोडा-सा परसाद चढ़ा दें, माल बहुत-सा पाएं
उनकी इच्छा मत ठुकरा
हरे क्रिस्ना ...
मंदिर तेरा काले धन वाले जमाखोर बनवाएं
जेबकतरे और लुटेरे आसीस लेने को आएं
भनें दिन-रात गोविंदा
हरे क्रिस्ना ...."

उपर्युक्त गायन में दुलारी बाई और काले धन इकट्ठा करने वालों पर व्यंग्य भी है। दुलारी की चिन्ता करते वक्त उसका संकट दूर करने के लिए गायन मंडली कृष्ण से प्रार्थना करती है। सामान्यतया मन्दिर के सामने जूतों की चोरी आम बात है। ऐसी चोरी बहुत चोर करते हैं, दुलारी बाई ने भी की है। अत: इसकी लाज कृष्ण बचाये। लोग भगवान के मंदिर में जाते हैं और भगवान पर पैसे चढाते हैं। इसके बदले में भगवान से बहुत-सा माल चाहते हैं। दुलारी बाई ने भी यही किया। अत: उसकी इच्छा हैं भगवान कृष्ण उस ने ठुकराए। ऐसा देखने को मिलता है कि काला धन जिनके पास होता है वे ही भगवान का मंदिर बनाते हैं। इस मंदिर में जेबकतरे और लूटेरे भगवान का आशिर्वाद लेने आते हैं। जो बुरा काम करते हैं वे दिन-रात कृष्ण के नाम का जप करते हैं। इस प्रकार गायन मंडली द्वारा बहुत कुछ कहा गया है।

गायन मंडली का प्रयोग जीवन की परिभाषा देने के लिए मणि मधुकर ने किया है। ।

यथा :

"जीवन हे झांसा, पलट दे पासा, तज दे निराशा,

एक तमाशा - अच्छा - खासा बनाया 51 जिओ।"

जीवन एक तमाशा है। वह तमाशा जिसमें आशा और निराशा, सुख और दु:ख का समन्वय रहता है। सुख के बाद दु:ख, दु:ख के बाद सुख, यह चक्र चलता रहता है। सुख एक पानी की बूंद की तरह होता है। और दु:ख एक सागर की तरह । जीवन झांसा है अगर यह पलट दे तो निराशा का कोई स्थान नहीं अर्थात निराशा का त्याग करना चाहिए।

मनुष्य को सोना-चांदी का लालच है। लेकिन उसमें जो दु:ख छिपा हुआ है उसका मनुष्य को अंदाजा नहीं। बहुत धन घर में हो तो चोर का डर रहता है। रात का ठीक तरह से भय के कारण नींद नहीं आती।

अत: सोना-चांदी सिर्फ दु:ख बढाते हैं। अत: मनुष्य को जितना धन मिले उसी में सुख मानना चाहिए। लालच बुरी बला है।

यथा :

"सोना – चांदी क्या करे, धन से दु:ख बढ़ जाय

जितना मिले उसी में सुख है, लालच बुरी बलाय

देखा – देखा रे, दुलारी बाई ने एक सपना ...."

उपर्युक्त आरेख से संक्षिप्त जानकारी मिल जाती है।

मालदेव और उमादे की शादी हो जाती है। सुहाग रात में उमादे शृंगार कर रही है। इतने में मालदेव कक्ष में आता है। उमादे का श्रृंगार पूरा नहीं हुआ था।

अत: वह दासी भारमली को मालदेव के अन्त: पुर में भेज देती है। मालदेव भारमली को सौंदर्य और चंचलता देखकर अपने को रोक नहीं सका। उसने भारमली को अंकशायिनी बना दिया। जब उमादे ने यह देखा तो वह टूट गयी, बिखर गयी। रानी ने साजशृंगार मालदेव के लिए किया था। लेकिन वह वही रह गया। नयनों में जो काजल लगाया था वह आसुओं की वजह से बह गया। दासी भारमली महारानी बन गयी। अत: ठकुरानी उमादे मालदेव से रुठ गयी। इसका वर्णन गायन मंडली ने बहुत कम शब्दों में लेकिन यथार्थ किया है –

"रानी का सिंगार रह गया,

सारा कजरा नयन बह गया।

रूठ गयी रानी ठकुरानी,

दासी बन बैठी महारानी।"

गायन मंडली द्वारा भारमली की मनोदशा, उसका दु:ख-दर्द का वर्णन बडी बेखूबी से किया गया है भारमली का सपना राजा ने उसे न पहचानने के कारण टूट गया। महलों में राजा मालदेव के सम्मुख उसने पूर्ण समर्पण किया। लेकिन वह उसका वर नहीं था सिंदूर नहीं था उसका राजा पर कोई अधिकार नहीं था जिसको उसने पति के रूप में स्वीकारा था, वह अधूरी आकृति है। वह एक उच्च कुलीन राजा है। उच्च कुल के बोझ तले उसकी आत्मा दबी हुई है। भारमली के हाथों में महेंदी रची है जो उसे नागफनी की तरह लगती है। क्योंकि भारमली दासी है, नीच कुल की है। कुछ पंक्तियाँ देखिए:

"टूटा सपना भारमली का

जब यह जाना उसने,

नहीं है कोई,

महलों में उसका।

उसका वर

सिन्दूर नहीं है,

राजा पर अधिकार नहीं है।

जिसको उसने पति स्वीकारा,

नोट्स

एक अधूरी आकृति है।

उच्च कुलों की दीवारों के

बोझ तले वह दबी हुई है।

नाटककार मणि मधुकर ने "दुलारी बाई" नाटक में "डंडे की कथा" का इस्तेमाल किया है जो नाटक में हास्य रस की उत्पत्ति करता है। कल्लू भांड परलोक के बाबा का रूप धारण करके आता है। वह दुलारी को बताता है कि वह उसके पिता से मिलकर आया है, वही पिता जो नरक की यातनाएँ भुगत रहे हैं। कल्लू के पास एक डंडा है।

अत: वह उसके बारे में दुलारी को जानकारी देता है। इस डंडे का पेड हिमालय की घाटियों में होता है। इसका नाम न कल्लू को मालूम है, न उसके पिता को। उस पेड की चमत्कारी लकड़ी से यह डंडा बना है। यह डंडा आग में जलता नहीं। कोई उसे टालना चाहे तो टाल नहीं सकता। वह बुरा काम नहीं करता अर्थात वह किसी का न सिर फोडता है, न किसी टटपुंजिये की टांग तोड़ता है। वह सिर्फ जोड़ने का काम करता है। अगर कोई इस डंडे को हवा में उडाना चाहे, दल-बदल कर राजपथ की ओर मुडना चाहे तो इस डंडे पर वह चढे और आगे बढे, उस कुर्सी जरूर मिलेगी। कल्लू इस डंडे की मदत से दलिया बनाता है और दुलारी को खिलाता है। कल्लू के शब्दों में – "जय जगत्तम कलकलकत्तम ... हिमालय की घाटियों में होता है एक पेड, (धीरे से) जिसका नाम न मैं जानता हूं, न मेरा बाप जानता था, (फिर जोर से) उसकी चमत्कारी लकड़ी से बना है यह डंडा. आग में जलता नहीं, पानी में पिघलता नहीं, टाले से टलता नहीं – न किसी का सर फोड़ता है, न किसी तटपुंजिये की टांग तोड़ता है – जोड़ता है तो, बिछुडे हुए दिलों को जोड़ता है। अगर कोई हवा में उडना चाहे, दल-बदल कर राजपथ की ओर मुड़ना चाहे, तो उस डंडे पर चढ़े, आगे बढ़े – मिल जाएगी कुर्सी .. ।"

पुश्तैनी जूतों की लोककथा

"दुलारी बाई" नाटक में दुलारी के पुश्तैनी जूतों की कथा सूत्रधार द्वारा बतायी गई है। दुलारी बाई के दादा ने एक मोची से जूते बनवाए। दादाजी ने जीवनभर उस जूतां को पहना। उनके बाद उनके पुत्र चोंचकतरनीलाल ने उन जूतों को जीवन भर पहना।

चोंचकतरनीलाल ने उन जूतों का इतना इस्तेमाल किया कि वे घिसे और टूटे भी । फिर भी उन्होंने जूतों को फेंका नहीं। उन्हें पैबन्द पर पैबन्द लगाया। उनके मरने के बाद उनकी पुत्री दुलारी बाई के पास ये जूते आ गये। इसके पहले दुलारी नंगे पांव चलती थी। लेकिन अब उसे पुश्तैनी फटे, तलवे घिसे हुए जूते मिल गय हैं। उन जूतों को तलवे लगाकर वह पहनना चाहती है। लेकिन इन जूतों के कारण उसकी परेशानी बढ़ गई। परलोक के बाबा (कल्लू भांड) ने इन जूतों को त्याग देने की सलाह दुलारी बाई को दी। लेकिन ये जूते पालतू कुत्ते की भांति बार-बार वापस लौटकर दुलारी के पास आते हैं। इन जूतों की वजह से वह कभी हर्जाना अदा करती है तो कभी जुर्माना। आखिर में थककर वह जूतों को पंचायत में रखने के लिए ले जाती है। उसके दुर्भाग्यवश कहिए या सौभाग्यवश कल्लू भांड राजा का रूप धारण कर आता है, दुलारी के जूतों का मुकुट पहन लेता है और उसके साथ शादी कर लेता है। बाद में नाटक के अन्त में यथार्थता का स्वीकार कर दुलारी कल्लू का स्वीकार करती है।

"लालच बुरी बला है" लोककथा

मणि मधुकर ने अपने नाटक "दुलारी बाई" में "लालच बुरी बला हैं" के आधार पर स्वप्न-दृश्य का निर्माण किया है। दुलारी बाई की स्वप्न कथा का आधार एक दंतकथा है। दंतकथा इस प्रकार है : एक

राजा था जो धन का बहुत लालची था। एक दिन उसने भगवान की आराधना की। भगवान प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा को वरदान दिया कि वह जिस किसी चीज का छू लेगा, वह सोना बन जाएगी। अत: राजा ने टीले, पर्वत, महल, पेड-पौधे आदि को अपने स्पर्श से सोना बना दिया। उसने बहुत सारा धन बना लिया। उसकी एक बेटी थी जो उसे अपने जान से भी जादा प्यारी थी। राजा-रानी और उनकी बेटी खाना खाने बैठे। राजा ने खाने को हाथ लगाते ही वह सोने का बन गया। इतना ही नहीं उसने अपनी बेटी को छू लिया और आश्चर्य हुआ, उसकी प्यारी बेटी भी सोने का पुतला बन गयी। उसकी प्यारी बेटी, न बोलती थी, न उससे खेलती थी। अत: राजा को उसकी गलती का एहसास हुआ। साथ ही सुख की असली परिभाषा भी समझ में आयी। अत: उसने भगवान से उसका वरदान वापस लेने को कहा। भगवन के वरदान वापस लेते ही उसकी बेटी, बोलने लगी, दौडने लगी। असली खुशी उसे नसीब हुई। अत: लालच बुरी बला है।

नाटक "दुलारी बाई" में इससे मिलती-जुलती लोककथा का प्रयोग नाटक को और भी मनोरंजक बनाने के लिए किया है। दुलारी बाई और कल्लू भांड की शादी हो जाती है। जब कल्लू की असलियत का पता दुलारी को लगता है तक वह उससे झगडा करती है। इतने में रात होती है। रात में वह सपना देखती है कि भगवान उसे वरदान देते हैं कि वह जिस किसी को छ लेगी वह सोना बन जाएगा। वह पर्वत, टीले, पंडों के साथ-साथ कल्लू, मंगाराम और फर्जीलाल तीनों को अपने स्पर्श से सोना बनाती है। बाद में जब उसे भूख का एहसास होता है तब उसके सामने जिलेबी, गुलाबजामुन, मालपुरा सब कुछ कटोरदान में रखा हुआ है। वह सोचती है बचपन में उसकी नानी उसे सोने के देश में रहेनेवाली परी की कहानी बातती थी। यह सोने का देश दुलारी बाई का गांव है और वह परी खुद दुलारी बाई है। खाना खाने के बाद वह पुरे गांव को सोने का बनाएगी। लेकिन जब वह गुलाबजामुन खाने के लिए हाथ उठाती है, वह सोने का बन जाता है। उसी प्रकार जिलेबी और मालपुआ भी सोने का बन जाता है। दुलारी बाई भूख से तडप उठती है। अब वह खाएगी क्या? अत: उसे सोने की व्यर्थता समझ में आती है। वह रोने लगती है। ईश्वर उसके दु:ख का कारण पूछते हैं। वह वरदान वापस लेने की प्रार्थना करती है। भगवान वरदान वापस लेता है। जब स्वप्न समाप्त होता है और वह जाग उठती है तब वह अपने भाग्य पर रोने के बजाय कल्लू को, यथार्थ को स्वीकारती है। उसे अपने घर ले जाती है।

लोकसंवाद

लोकस्वाद में खण्डित संवाद, लयात्मक संवाद, छोटे संवाद, बड़े संवाद होते हैं। ये सभी प्रकार के लोकसंवाद "दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" में देखने को मिलते हैं। मनुष्य की मन:स्थिति पर उसके संवाद अवलंबित होते हैं। जब उसका मन टूटा-बिखरा होगा तब उसके संवाद भी टूटे-बिखरे और खण्डित होंगे। मन की स्थिति का जीता जागता आईना उसके संवाद हैं। जब मनुष्य स्थिरचित्त होता है तब उसके संवाद संयत होते हैं। "दुलारी बाई" नाटक में विशेषत: दुलारी बाई का व्यक्तित्व खण्डित व्यक्तित्व है। उसके साथ-साथ कटोरीमल, ननकू, चिमना, गंगाराम इनके भी व्यक्तित्व कहीं न कहीं खण्डित हुए हैं। अत: इन पात्रों के संवादों में रिक्तिसूचक बिन्दु दर्शाये गए हैं जिसकी वजह से उनका खण्डित व्यक्तित्व स्पष्ट नजर आता है, उदाहरण देखिए -

दुलारी : मुझे बताओं .. क्या सौदा था?

कटोरीमल : तुम्हें मेरी बेइज्जती करने का कोई हक नहीं, दुलारी बाई।

नोट्स

दुलारी : मैंने तो .... तुमसे ऐसा कुछ नहीं कहा –

कटोरीमल : अब तो मैं भी बदला लूंगा और तुम्हारी बेइज्जती करूंगा। तुम हो दुलारी बाई ....एकदम फटीचर .... कचरे के ढेर की रानी .... सुअर के बच्चों की नानी और ये तुम्हारे जूते ... पांच सौ साल पुराने ... ऐंचकताने।

उपर्युक्त उध्दरण से स्पष्ट रूप से दुलारीबाई और कटोरीमल का खण्डित व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। दुलारी का अन्य संवाद देखिए – "ठीक है, अब जा कर उस सौदागर को पकड़ो। (कटोरीमल जाता है) .. यह हुई न, समझदारी । परलोक में बैठे हुए बापू खुश हो रहे होंगे कि बेटी कित्ती हुसियार है। ये जूते ? इन्हें पहनकर चलने में तकलीफ होती है ... हाथों में उठा लेती हूं। कल ननकू को दे दूंगी, ठीक करने के लिए। वोह भी एक ही सिरफिरा है ... कुछ भी हो तीन पैसे से ज्यादा मजदूरी नहीं दूंगी उसे, हो।"

"दुलारी बाई" नाटक में संवाद में लयात्मक संवाद का प्रयोग भी मिलता है। इस नाटक में सूत्रधार और कल्लू भांड की भाषा में लयात्मकता दृष्टिगोचर होती है। सूत्रधार की भाषा देखिए : "कंजूस – मक्खीचूस से कोन पाए पार, इसने तो कृष्णजी को भी बना दिया साड़ियों का दुकानदार। (प्रकट) तुम्हारे पास वस्त्रों की क्या कमी है, दुलारीबाई। खूब जमा कर रखी है तुमने बाप-दादों का कमाई. आसपास के ठाकुर औरए जमींदार, रहे हैं सदा तुम्हारे कर्जदार। डालती हो सबके गले में माया का फंदा, जोर-शोर से चलाती हो सूद का धंधा। पिछले महीने तुम्हारे पिता मर गए, सारी सम्पत्ति तुम्हारे नाम कर गए – क्योंकि तुम्म उनकी अकेली संतान .... अब मजे से रहो, बढाओं अपने खानदान की शान। इस उध्दरण में "पार-दुकानदार, "बाई-कमाई, "जमींदार-कर्जदार, "फंदा-धंधा, "मर गए – कर गए, "संतान – खानदान" इससे संवादों में एक लय और ताल निर्माण हुए हैं। कल्लू भांड की भाषा देखिए: – "कल्लू, हे नारी, दुलारी, तुम्हारी शक्ल पर छाई हुई है लाचारी। "जब पेट रहेगा खाली तो क्या कहेगी काली कलकत्ते वाली। कुछ तो करना ही पडेगा इन्तजाम .... न हो ज्यादा तामझाम, "सिगडी सुलगाओ, देगची लाओ – दलिया खाओ।" इसप्रकार लयात्मक संवाद के उदाहरण दुलारी बाई में मिलते हैं।

"दुलारी बाई" नाटक में कुछ संक्षिप्त छोटे संवाद भी मिलते है। इतने छोटे कि वे एक शब्द के हैं। यथा :

कल्लू : (एकाएक चीखकर) जूते !

दुलारी : जूते ?

कल्लू : जूते !

दुलारी : जूते ?

उपर्युक्त "जूते" कहने में अलग-अलग अर्थ है। पहला और तीसरा आश्चर्य व्यक्त करनेवाला तो दूसरा और चौथा प्रश्नार्थक है।

कुछ संवाद बहुत बड़े हैं। विशेषता दुलारी के स्वगत या संवाद बहुत बड़े है। दुलारी का संवाद बहुत लम्बा है – "मंदिर में आना तो बहुत महंगा पडता है ..... हरे क्रिस्ना, हरे क्रिस्ना।

लोकधर्मी नाट्य की विशेषता होती है कि उसमें जो पात्र होते हैं उनकी अपनी क्षेत्रीय भाषा होती है। अगर एक नाटक में बहुत सारे प्रदेश के लोग हों तो वे अलग-अलग भाषा बोलते हैं। पंजाबी पंजाबी भाषा बोलता है, गुजराती गुजराती भाषा बोलता है तो गांव के लोग गांव की भाषा बोलते हैं।ष्दुलारी बाई" नाटक में गंगाराम की भाषा राजस्थान है। उदाहरण देखिए – "अजी पटेलजी माफ करणा। नांव मेगं सिरफ पीने के पाणी की ही कम्मी नहीं, और भी भोत-सी चीजों की कम्मी है। अब देखो, एक कुंआ है, कम से

नोट्स

कम तीन होने चाहिए। छोरों के पढ़णे के लिए एक पाठशाला जरूरी है। कोई बाहर से म्हेमान आ जाए तो एक धर्मशाला भी होनी चाहिए। बरसात होती है तो गलियों में पाणी इकट्ठा हो जाता है – उसके निकास का कोई इन्तजाम नहीं। इतणा कीचड हो जाता है कि हाथी भी फंस जाए एक बार तो निकल नहीं सके, भगवान हो आके बचा ले तो दूसरी बात।[8]

"दुलारी बाई" नाटक में कुछ संवाद में संवाद भी दिखाई देते हैं। कल्लू (राजा) पटेल को समझाता है कि रात को एका महाप्रेत आकर उसके शरीर में प्रवेश करता है। महाप्रेत के प्रवेश करने से वह भयानक हो उठता है और जिंदा आदमियों को खाने लगता है। लेकिन अब महाप्रेत उस पर खुश है। महाप्रेत ने कल्लू से कहा कि दुलारी बाई के पास वह जाये और उससे शदी करे। इतना ही नहीं उसके पास जो सौ साल पुराने जूते हैं, उनका मुकुट बनाकर वह पहने। जिस दिन यह सब पूरा हो जाएगा महाप्रेत कल्लू के शरीर से चला जाएगा।

उपर्युक्त संवाद में छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भारमली और मालदेव की बातें स्पष्ट हो जाती हैं। मालदेव और भारमली एक राजा और एक दासी न रहकर एक स्त्री-पुरूष बन गये है। ऐसे उन्मादी क्षण में भारमली चाहती है कि यह रात कभी न खत्म हो जाये। भारमली एक दासी होकर बहुत कुछ पाने का एहसास करती है। तब मालदेव उससे कहता है कि तुम दासी नहीं है, रानी हो और रानी की तरह महलों में राज करो। मालदेव उस उन्मादी क्षण में दासी और रानी का अन्तर भूल गया। यह और कुछ नहीं, सेक्स के धरातल पर मालदेव की कमजोरी ही हैं।

मौखिक लोकसाहित्य और लोकोक्तियों का घनिष्ट संबंध है। लोकोक्ति से जीवन के सत्य प्रकट होते हैं। इसीलिए अन्य लोक साहित्य से लोकोक्ति स्वभाव और प्रयोग में भिन्न होती है। "यह ग्रामीण जनता का नीतिशास्त्र है। लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के वनीभूत रत्न हैं, जिनमें अकल और अनुभव की किरणें फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियाँ प्रकृति के स्फुल्लिंग (रेडियो – ऐक्टिव) तत्वों की भाँति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती हैं। लोकोक्ति साहित्य संसार के रीति-साहित्य (विजडम – लिट्रेचर) का प्रमुख अंग है। सांसारिक व्यवहारपटुता और सामान्य अकल का जैसा निदर्शन कहावतों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकोक्ति के विषय में इस चर्चा से प्रकट होगा कि कहाँ तक लोकोक्ति का संकुचित अर्थ लिया गया है। लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है। ऐसे लोकोक्ति का प्रयोग नाटककार अपने नाटक में उचित स्थान पर करते हैं।

"दुलारी बाई" में नाटककार मणि मधुकर ने कहावतें, मुहावरे, का प्रयोग किया है। नाटककार ने "पटेल के हाथ में हो नकेल तो मत कर धक्कममेल" तथा "घर में नहीं दाने, मिया चले भुनाने" आदि कहावतें प्रयोग में लायी हैं। मुहावरें निम्नलिखित हैं : "गेहूं के साथ हो जाती है धुन की पिसाई, "घोडा घास से यारी करेगा तो खाएगा क्या, बखिया उधेडना, गोटियाँ खटखटाना, नींद हराम करना, चुनौती देना, निन्नानवें के फेरे में पड़ना, नशे में चूर होना, सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाना, गला घोंटना, तबीयत मचलना, रास्ता नापना, दिल में आग लगा देना, ईट का जवाब पत्थर छाप (नाटककार द्वारा बनाया मुहावरा)।

"ख्याल भारमली" में मुहावरों का प्रयोग उचित किया गया है।पंग जगाना, ढंग किया, खेल दिखाया, ठाठ जमाना आदि मुहावरे देखने को मिलते हैं।

नोट्स

भाषा का प्रयोग

"दुलारी बाई" नाटक में "कोट-पैंट, टाई (पृ.9), डार्लिंग, कांग्रेसी, इंडिपेन्डेन्ट, पॉलिटिक्स (पृ. 10), स्टेटमेंट, रिक्वेस्ट, क्लीयर, प्रेयर, हेड, चेयरमैन (पृ.11), टेम्पल, यूनियन, पोर्टफोलियो (पृ. 12), प्रोजेक्ट, यसमैन, पब्लिक, इमेज, डायरेक्टर, थियेटर, एक्टर, मिसफिल (पृ. 13), जोक (पृ.14), एक्टिंग (पृ. 15), पार्ट, स्टाइल (पृ. 21) आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया गया है।

लोकगीत

"भावुक तत्व से मनुष्य या प्राणी जुड़ा रहता है। इन्हें आवेग या ऐमोसन्स कहा जाता है। आवेग एक सकल शरीरी प्रक्रिया है। शरीर का प्रत्येक अवयव आवेग से आक्रानत होकर किसी-न-किसी प्रकार की गत्यात्मकता से युक्त रहता है। इसी के अधीन कण्ठ से स्वर भी फूटता है। यह आवेग लययुक्त होता है। ताल उसकी लय को हृदय और प्राण से मिलती है। अत: मानव का परिचय पहले लय ओर तालयुक्त स्वर से होता है। स्वर उसे प्रिय लगता है। उसकी भावनाओं के अनुसार उसके स्वर में लय-ताल आ जाता है। इसे व्यक्त करने के लिए "शब्द" के माध्यम ने जन्म लिया। आज के लोकगीत के स्वर और शब्द परस्पर गुंथे रहते हैं। अत: लोकगीत स्वरप्रधान है या शब्दप्रधान यह कहना कठिन हो जाता है। ऐसे लोकगीतों का और मनुष्य का गहरा संबंध है क्योंकि "लोकगीतों में भावना अकेले ही नहीं आती, उस में प्रकृति के उपकरणों के बीच हृदय की अनुभूतियाँ तरंगित होकर बहती हैं, आदमी के चारों ओर की दुनिया की सच्ची धडकन लोकगीतों में रहती है।" लोकगीतों में राष्ट्रप्रेम, विश्वबन्धुत्व आदि का स्फुट रहता है। इनका उद्देश्य महान होता है। लोकगीत हमारी भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।

लोकगीत आकार में छोटे होते हैं। से केवल चार पक्तियों में होते है, जो अक्सर मनुष्यों के विभिन्न संस्कारों पर गाये जाते हैं। लोकगीतो में गेयता होती है। लोकगीतों में मनुष्य की भावनाओं के साथ-साथ इतिहास, काव्य, पुराण, राजनीति, लोककथा का भी समावेश होता है।

विशेष विवेच्य नाटक "दुलारी बाई" में लोकगीतों का स्फुट मिलता है। गायन मंडली द्वारा ये लोकगीत गाये गये हैं। लोकगीत के माध्यम से दुलारी बाई का परिचय देखिए -

"हम तो काठ के पुतले हैं, ये दुलारी बाई,
दुलारी बाई है, ये दुलारी बाई !
बिल्ली जैसी चौकन्नी हे दौड़ी - दौड़ी
निन्नानवें के फेर में पकड़े दांत से कौड़ी - कौड़ी
हम तो काठ के पुतले -
जोंक कहे कोई इसको या फिर खटमल की मौसी
दो पइसे का नफा हो तो पैदल पहुंचे चन्दोसी
हम तो काठ के पुतले ..

काठ के पुतलों द्वारा दुलारी का परिचय दिया गया है। गायन मंडली के दो कलाकार मुखौटे पहने पुतलों की भूमिका अदा करते हैं। दुलारी बाई दुलारी बाई है। बिल्ली जैसी वह चौकी है। लेकिन पुतले काठ के हैं। दो पैसे के नफे के लिए वह पैदल किसी भी जगह जा सकती है।

नोट्स

कल्लू भांड का परिचय भी इसी तरहलोकगीत की शैली में दिया गया है :

"बोलो रे बोलो, कल्लू भांड की जै बोलो –
भेस बदल कर आया जिओ ।
सडा – मुस्टंडा, जैसे हो पंडा, पूरा पाखंडा,
हाथ में डंडा ऊपर झंडा लगाया जिओ।
अक्ल अडंजन, दांतों का मंजन, सब दुख-भंजन, है मनोरंजन
झन – झन – झन – झन बजाया जिओ।
ठगना है अच्छा, धंधा है सच्चा, मत कर दिल कच्चा,
खुश रहो बच्चा,
खाकर के गच्चा हंसाया जिओ।"

उपर्युक्त पहले दो गीत उमादे का वर्णन करते हैं तो तीसरा गीत भारमली का वर्णन। उमादे रानी जब मालदेव के कक्ष में साज-शृंगार करके गयी तब उसने देखा – भारमली और मालदेव एक-दूसरे के बाहों में हैं। भारमली ने उमादे का विश्वास तोड़ दिया। रानी के श्रृंगार की वजह से उसका काजल बह गया। रानी उमादे रूठ गयी और दासी भारमली ने उसके अधिकार छिन लिए, खुद रानी बन गई। दूसरे गीत में उमादे की स्थिति उस रात क्या हुई ?इसका वर्णन है। उमादे के लिए पहले तो वह रात सुगन्धित थी लेकिन भारमली के कारण वह अभागन बन गयी, रात-भर रोती रही। रोने से उसका शरीर कापता रहा। जिस प्रकार कोई जहरीली नागन डस लेती है उसी प्रकार भारमली उसके लरजते मन रूपी मोती को डस गई है।

लोकनृत्य

"दुलारी बाई" नाटक में पटेल और कल्लू भांड का नृत्यभिनय हुआ है। राजा के वेश में कल्लू आता है तब पटेल की अवस्था का वर्णन गंगाराम ने बडे उचित शब्दों में किया है, जो नृत्याभिनय का निर्देश देता है। पटेल, गंगाराम और दुलारी बाई बातें कर रहे हैं इतने में पटेल को कोई बाहर से आवाज देता है। पटेल बाहर जाकर वापस आता है। हडबडाहट के कारण वह मूर्गे की तरह फडफडा रहा है। गंगाराम की समझ में कुछ नहीं आता। वह इस हडबडाहट का कारण पूछता है। गंगाराम उसकी क्रिया कलापों का वर्णन करते हुए कहता है कि नट की तरह नाच क्यों कर रहा है। इसप्रकार नाचते ही रहेगा या कुछ बताएगा। तब बड़ी अभिनेतया से राजाजी के पधारने की बात पटेल गंगाराम को बताता है।

दुलारी बाई में कल्लू की शादी सम्पन्न हो जाती है। लेकिन दुलारी की असलियत का पता चलते ही वह कल्लू को भला-बुरा कहती है। लेकिन अब ये सब बेकार है क्योंकि ये सात फेरों का चक्कर है। अब उनकी शादी हो चुकी है।

अत: अलग होना मुमकीन नहीं। दुलारी दुखी हो गयी है जबकि कल्लू आनंद से नाचता है। और गाना भी गाता है। गाने का अर्थ इसप्रकार है – अब उस दुलारी के बिना चैन नहीं पड़ता। उसके लिए उसने राजा का भेस धारण कर लिया। एक नाटक रचाया और दुलारी को अपनी पत्नी बनाया। अब दुलारी को पछताने से फायदा नहीं। वह अपना घर बसाए। कल्लू दुलारी के बिना अब एक पल भी नहीं जी सकता।

नोट्स

इसप्रकार गाते-गाते वह नाचता है, जो एक उत्कृष्ट अभिनय ही होगा। दर्शक आश्चर्य से दातों तले उंगली दबा बैठते हैं। कल्लू का इंडे का दलिया बनाने का अभिनय मूकाभिनय है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि "लोकधर्मी नाटकों की मंच-सज्जा में नृत्य की गतियों का महतवपूर्ण योग रहता है। जहाँ चारित्रिक उपयोगिता के आधार पर शुध्द नृत्य अर्थात ताल लय में बन्धे कुछ नृत्य-पद संचालन प्रभावकारी सिध्द होते हैं, वही नृत्य-मुद्राएं और मुकाभिनय का नाट्य में कल्पनाशील प्रयोग किया जाता है।

लोकवाद्य

लोकधर्मी नाट्य में विशेषत: लोकवाद्यों का प्रयोग किया जाता है। जिससे नाट्य के गीतों पर लोकरंग चढ़ सके। लेकिन साठोत्तर काल में उनके साथ-साथ पाश्चात्य संगीत के वाद्यों का प्रयोग भी किया जा सकता है। लोकवाद्यों में झांझ, करताल, बासुरी, डफ, तबला, नगाडा, मजीरे, चिकारा, हारमोनियम, ढोलक, पेपा आदि आते हैं। "दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" में प्रासांगिक रूप में उपर्युक्त वाद्यों का प्रयोग किया गया हैद्य ये वाद्य इस प्रकार हैं :

"दुलारी बाई" में लोकवाद्यों के प्रयोग का उल्लेख नहीं है। लेकिन इस नाट्य में गायन-मण्डली का होनी ही इस बात को निर्विवाद स्वीकार करता है कि इसमें लोकवाद्यों का प्रयोग जरूर होगा। उदाहरण ाार्थ दुलारी बाई और राजा कल्लू भांड की शादी के वक्त शहनाई का इस्तेमाल करके शादी के माहौल को प्रभावित बनाया जा सकता है। इसीतरह वेदना, दु:ख - सुख का वाद्यों के इस्तेमाल से प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

शेरो-शायरी का प्रयोग

शेरो-शायरो में गागर में सागर भरने की क्षमता होती है। दो-तीन पक्तियों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इन शेरों में लय तो होता ही है, साथ उनके अर्थ लाजवाब होते हैं। "दुलारी बाई" नाटक में सूत्रधार और ननकू मोची के शेरो-शायरी के माध्यम से दुलारी के प्रति अपने प्रेम का इजहार किया है। सूत्रधार बताता है कि अगर दुलारी बाई की उस पर नजर हो तो वह उससे शादी के लिए तैयार है। दुलारी से वह मधुर शब्द और सुंदर, मीठी बातें सुनेगा तो उसक रुपहले दिन रोशन हो जाएंगे और रातें महक उठेगी, यथा :

सुनूं तुमसे मधुर अलफाज, मीठी रस भरी बातें।
तो रोशन हों रूपहले दिन, महक उठे मेरी रातें।

दुलारी उसे जूते दिखाकर उसका गला पकडती है। जिससे सूत्रधार को दिन में तारे नजर आते हैं। वह इसका वर्णन करता है :

मिलने लगे वफा की सजाएं तो क्या करें,
तारे से दिन को भी नजर आएं तो क्या करें।
वैसे तो जिन्दगी में सदा पिटते रहे हम,
नाटक में उनसे मार ही खाएं तो क्या करें।

दुलारी का दूसरा दिवाना है - ननकू मोची, जो सिर्फ शेरो-शायरी में ही बातें करता है। वह दुलारी की खुशामद करता है, लेकिन दुलारी चालाक है। उसके चंगुल में नहीं फसती। निम्नलिखित शेर देखिए :

नोट्स

तेरे कदमों की आहट फट्ट से पहचान लेते हैं,

हसीना, तेरी बांकी चाल पै हम जान देते हैं।

इस शेर में दुलारी की चाल पर व्यंग्य है। उसके फटे पुश्तैनी जूतों से फट-फट की आवाज आती है जिससे सभी उसकी आने की आहट पाते हैं। इसके अलावा उसकी कोई चाल नहीं है। इसीलिए ननकू कहता है कि इसके अतिरिक्त जो चाल बाकी है उस पर वह जान देता है। यह दिवाना, परवाना अंजाम से बेगाना है फिर भी दुलारी से प्यार करता है यही उसकी जज्बाती तौर पर मजबूरी है :

मैं तो परवाना हूँ, अंजाम से बेगाना हूँ,

अपने जज्बात से मजबूर हूं, दीवाना हूं।

इसी प्रकार अन्य शेरों शायरी द्वारा दुलारीबाई पर व्यंग्य कसा है :

आके तू इत्र की खुशबू ... सी लुटा जाती है।

प्यास उडते हुए भौरों की बढ़ा जाती है।

उसके कपड़ों पर यह व्यंग्य है जो पुराने हुए हैं। उन्हें पता नहीं कितने दिनों से दुलारी ने धोया नहीं है। फिर भी ननकू भौंरों की भांति उसका प्यारा है। जब जब वह दुलारी को देखता है तब तब उसकी अदाओं से ननकू की इच्छा प्रकट होती है। वह खुद को रोज संभालता है पर रोज उसकी नीयत खराब होती है। इसका मतलब वह शारीरिक स्तर पर उसे पाना चाहता है। यथा :

"देख करके तेरी अदाओं को, आरजू बेनकाब होती है।

रोज खुद को संभालता हूं मैं, रोज नीयत खराब होती है।

कठपुतली का खेल - पुतलों (मुखौटे)

भारतवर्ष और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में कठपुतली के खेल का उल्लेख मिलता है। लेकिन इस खेल का प्रारम्भ कब हुआ यह बताना बड़ा कठिन कार्य है। "नाटको में प्रयुक्त "सूत्रधार" शब्द से कठपुतलियों के सूत्र द्वारा संचलित करने का आवश्यक ही सम्बन्ध है। सूत्रधार का प्रयोग इसी कठपुतली के खेल से नाट्यशास्त्र में अपनाया गया, यह निर्विवाद है।

इसमें सन्देह नहीं के कठपुतली का खेल प्राचीन काल से ही लोगों के मनोरंजन का सर्वप्रिय साधन रहा है। कठपुतली के निर्माण में काठ के अतिरिक्त कपडा और चमडा भी काम में लिया जाता है। कठपुतली लम्बे-चौड़े आकार की लचकदार पुतली होती है। इसे रंगीन् वेशभूषा और रूढ़िगत आकार-प्रकार एवं सज्जा के साथ तैयार किया जाता है। गोल चेहरा, लम्बी मछली की भन्ति आँखें, तनी भौंहें ओर लम्बी कानों तक खिंचे हुए ओंठ कठपुतलियों का रूप होता है। लेकिन आज पश्चिम में आधुनिकता का स्पर्श पाकर ये रंगमंच पर आयी है, अपना रूप बदलकर। कुछ देशों में प्लास्टर के साँचों का प्रयोग करके पुतले बनाए जाते हैं जिससे उनमें समानता आ जाती है। इन पुतलों का प्रयोग नाटक "दुलारी बाई" में नाटककार ने किया है। वास्तव में कठपुतलियों की कथाएँ रामायण, महाभारत से ली जाती हैं। लेकिन मणि मधुकर ने काठ के पुतलों के माध्यम से मानव और पुतले का अन्तर, लालची मानव आदि पर प्रकाश डाला है।

मणि मधुकर के दुलारी बाई नाटक में पुतले के प्रयोग से दो बातें स्पष्ट हो जाती है। मुखौटा पहने हुए पुतले मानव की लालची प्रवृत्ति, मानव और पुतले का अन्तर स्पष्ट करते हैं। मानव की प्रवृत्ति भ्रष्टाचार, छल-कपट की होती है।

नोट्स

मौजूदा हालात में मनुष्य पैसे के पीछे दौड़ता है और पैसे की लालच में वह मनुष्य से पशु कब बन जाता है, इसका उसे ध्यान नहीं रहता। पैसे को भगवान मानकर वह भ्रष्टाचारी बन जाता है और कभी कभी बुरे काम करके पैसा कमाता है। मनुष्य काला धन इधर उधर छिपाते हैं। और दूसरों को धोखा देते हैं। इसके विपरीत पुतले होते हैं।

पुतलों में प्राण नहीं होते, जबकि मानव में प्राण होते हैं। पुतले मनुष्य की तरह न बोल सकते हैं न उन्हें पैसों का लालच है। इन काठ के पुतलों को लालची इन्सान आँख दिखाता है। मानो वे किसी काम के न हो। इतनी बातें पुतला एक और पुतला दो बताते हैं और मंच जाने लगते हैं इतने में दुलारी उन्हें रोकते हुए पूछती है कि तुम अभिनता हो या पुतले ? दोनों पुतले जवाब देते हैं कि व मुखौटे पहने हुए है। वास्तवे में वे अभिनेता ही हैं। यथा :

दुलारी : रूको। तुम दोनों अभिनेता हो या पुतले ?

दोनों : अभिनेता । ये तो ..... मुखौटे हैं।

पूर्वदीप्ति शैली को अंग्रेजी में श्थ्सी ठंबा' कहा जाता है। हिन्दी नाटकों में पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग दिखाई देता है। "दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" दोनों नाटकों में इसका प्रयोग मिलता है।

कटोरीमल इत्र का सौदा दुलारी को खरीद के देता है। दुलारी बाई उसे बताती है कि जब बीकानेर की महारानी इत्र का सौदा खरीद लेगी तब वह कटोरीमल को पांच रूपये देगी। अत: कटोरीमल दुलारी को याद दिलाना चाहता है कि जब उसका सौदा बिक जाएगा तब उसे पाँच रूपये इनाम देनेवाली है। वास्तव में पांच रूपये की जगह कटोरीमल ने पचास रूपये सुना था। लेकिन दुलारी बाई एक चालाक औरत है। वह परलोक के आये बाबा की बात याद दिलाती है और कहती है : "एक बाबा आए थे यहां, बोलो – रोज ध्यान करो, हरे क्रिस्ना, हरे क्रिस्ना .... उन्होंने डंडे का दलिया बनाकर खिलाया था मुझे इस प्रकार परलोक के बाबा का पूर्वदीप्ति शैली में स्मरण किया है।

डंडे का दलिया बनाने वाले बाबा का स्मरण दुलारी करती है। वह सोचती है – बाबा ने ठीक ही कहा था कि इन जूतों की वजह से वह मुसीबत में आएगी। दुलारी बाई को इन जूतों की वजह से काफी मुसीबत उठानी पड़ी।

नाटक में जब कल्लू और दुलारी बाई की शादी हो जाती है तब दुलारी बाई कल्लू को परलोक के बाबा की बातें बताती है लेकिन कल्लू सब कुछ जानता है। क्योंकि वह खुद ही परलोक के बाबा का रूप लेकर आया था।

स्वप्न शैली

"दुलारी बाई" नाटक में स्वप्नदृश्य को दिखाया गया है। वास्तव में "स्वप्न किसी इच्छा के कारण पैदा होते हैं और स्वप्न की वस्तु उस इच्छा को प्रकट करती है – यह स्वप्नों की एक मुख्य विशेषता है। दूसरी इतनी ही स्थिर विशेषता यह है कि स्वप्न विचार को केवल व्यक्त ही नहीं करता, बल्कि इस इच्छा को एक मतिभ्रमात्मक अनुभव के रूप में पूर्ण हुआ दिखाता है। ठीक उसी तरह दुलारी बाई की इच्छा सपने में पूर्ण होती है। वह चाहती थी कि उसकीशादी किसी अमीर राजा से हो। वह सपने में देखती है कि ईश्वर ने उसे वरदान दिया है कि वह जिस किसी को छू ले वह सोना बन जाएगा। वह सपने में बहुत सोना पाती है। लेकिन कुछ ही क्षण बाद उसे सोने की व्यर्थता का एहसास होता है। वह ईश्वर से अपना वरदान वापस लेने को कहती है।जब वह सुबह जाग उठती है तो यथार्थ का स्वीकार करती

नोट्स

है, कल्लू को स्वीकार करती है। वास्तव में दुलारी की दमित वासनाओं का प्रतिफलन सपने में हुआ है। "व्यावहारिक और सामाजिक जीवनयापन करते समय मानव को अपनी अनेक नैसर्गिक वासनाओं का दमन करना पड़ता है। ये दमित वासनाएँ नष्ट नहीं होती, वे अपनी तृष्टि और अभिव्यक्ति का अवसर ढूंढती हैं। यह अवसर उसे स्वप्न में मिलता है।

दुलारी के जीवनयापन में पैसे की लालची प्रवृत्ति है। वह एक-एक पैसे के लिए कहीं भी पैदल जाती। अपने बाप-दादों की सम्पत्ति सूद के धंधे में उसने लगायी है। गांव के सभी लोग उससे सूद पर रूपये लेते है। लालची प्रवृत्ति का प्रतिफलन ही दुलारी का स्वप्न है। स्वप्न का मानव के व्यक्तित्व पर गहरा असर होता है। अत: दुलारी पर भी उसका गहरा असर पड़ा औग्र उसने लालची प्रवृत्ति को त्याग दिया और वास्तविक, यथार्थता को अपनाया।

हास्य और व्यंग्य

लोकधर्मी नाटकों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह नाटक पाठकों, दर्शकों आदि का मनोरंजन करते हैं। ऐसे नाटकों में हास्य और व्यंग्य की निर्मिति नाटककार प्रासंगिक रूप में अवश्य करते हैं। विवेच्य दोनों नाटक हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से पूरी तरह से सफल माने जा सकते हैं। "दुलार बाई" में प्रारम्भ से अंत तक हास्य और व्यंग्य के रूप अधिकांशतया नजर आते हैं। मंगलाचरण में दर्शकों का वर्णन, ब्रह्मा-विष्णु-महेश की नेतागिरी, ननकू मोची का शेरो-शायरी द्वारा दुलारी के प्रति प्रेम निवेदन, गंगाराम जाट का शादी सम्बन्धी आत्मनिवेदन, कल्लू भांड का राजा बनना और दुलारी बाई के पुश्तैनी जूतों का मुकुट धारण कर दुलारी से शादी करना, शादी के बाद कल्लू भांड का मूल रूप दुलारी बाई के सम्मुख प्रकट होना आदि ऐसी घटनाएं है जो हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षत: कहा जा सकता है :

- दुलारी बाई" और "ख्याल भारमली" में लोकनाट्य शैली के अनेक प्रयोग लोकधर्मी नाट्य परम्परा को उजागर करने में सहायक हुए हैं।
- उपर्युक्त नाटकों में मंगलाचरण, सूत्रधार-अभिनेत्री तथा भोपा-भोपी का प्रयोग नाटक की कथावस्तु और पात्रों के चरित्र चित्रण को दर्शाने के लिए की गयी है। मंगलाचरण में पारम्परिक देवताओं का उल्लेख जरूर किया है लेकिन "दुलारी बाई" नाटक में इन देवताओं का प्रयोग आधुनिक राजनीति पर व्यंग्य करने के लिए किया गया है। विवेच्य दोनों नाटकों में गायन-मण्डली का प्रयोग कथ्य, शिल्प, शैली और मंचीयता की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। गायन मण्डली के द्वारा भारतीय परम्परागत लोकनाट्य शैली का प्रयोग नजर आता है और "ख्याल भारमली" के नाटक के अन्त में "कोरस" शैली का प्रयोग पारसी रंगमंच की याद दिलाता है।
- दोनों नाटकों में लोककथाओं का प्रयोग रोचकता लाता है और साथ-ही-साथ लोकधर्मी नाट्य परम्परा की प्रतिष्ठा को भी स्थापित करता है।
- विवेच्य नाटकों में लोकसंवाद, लोकभाषा, लोकगीत, लोकवाद्य लोकधर्मी नाट्य परम्परा की विरासत को व्यक्त करते हैं और शेरो शायरी का प्रयोग पारसी रंगमंच का प्रभाव दिखाते हैं। कठपुतली का खेल मुखौटों के द्वारा "दुलारी बाई" नाटक में दिखाया है जो, लोकधर्मी नाट्य की निजी विशेषता है।

नोट्स

- विवेच्य दोनों नाटकों में हास्य और व्यंग्य निर्मिति के कारण पाठकों, दर्शकों का मनोरंजन करने में ये नाटक कामयाब हुए हैं।
- आम तौर पर दोनों नाटक लोकधर्मी नाट्य शैली के सराहनीय प्रयोग हैं, जो अपनी छाप डालने में समर्थ हैं।

2.6 "ख्याल भारमली" मंगचलारण की विशिष्टता

"मंगलाचरण" नाटक के प्रारम्भ में नाटक की सफल समाप्ति के लिए ईश्वर की प्रार्थना होती है। "मंगलाचरण" के लिए "नांदी" और "नांदीपाठ" शब्द प्रयोग भी किया जाता है। "मंगलाचरण" के दो अर्थ हैं :

(1) किसी का कार्य श्रीगणेश करने से पहले पढ़ा जाने वाला कोई मांगलिक मंत्र, श्लोक या पद्यमय रचना,

(2) ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगल की कामना तथा उसकी सफल समाप्ति के निमित्त लिखा जाने वाला पद्य।

"मंगलाचरण" के लिए अंग्रेजी में "भगवान का परिचय देने वाली पंक्ति" कहा है। भरतमुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" ग्रंथ में "नांदी" का उल्लेख किया है। पाश्चात्य विद्वान अरस्तू और होरेस ने "मंगलाचरण" के बारे में अपने विचार स्पष्ट किए हैं। होरेस के अनुसार "देवताओं का प्रवेश उसमें (नाटक में) तब तक न होना चाहिए तब तक कोई कठिनाई न उपस्थित हो जाए जिसको दूर करने के लिए नाटक में स्थान देना अनिवार्य हो जाए।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार भारतीय "नाट्यशास्त्र" में ग्रंथ की सफल समाप्ति के लिए भगवान की प्रार्थना "मंगलाचरण" के माध्यम से की जाती है उसी प्रकार पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में भी नाटक में उपस्थित कठिनाइयों का निवारण करने के लिए देवताओं का स्मरण किया जाता है। लेकिन आधुनिक युग में "मंगलाचरण" का प्रयोग व्यंग्यात्मकता को स्पष्ट करने के लिए किया जाने लगा है। आज लोग यथार्थता में विश्वास रखते हैं।

यथार्थता यही है कि भगवान से बढ़कर नाटक में दर्शक हैं। वही दर्शक जो नाटक की अच्छाइयों से भाव-विभोर होकर पात्रों को ही नहीं, समूची नाटक-मंडली को तालियों की गूंज से सराहते हैं। लेकिन अगर उन्हें नाटक पसंद नहीं आता तब वे अपना विरोध भी प्रकट करते हैं। विशेष विवेच्य नाटक में मंगलाचरण का प्रयोग नाटककार ने व्यंग्य के रूप में किया है और "ख्याल भारमली" में मंगलाचरण के पारम्परिक रूप को ही स्वीकार किया है। दर्शक का महत्त्व दोनों नाटककारों ने स्वीकारा है।

वास्तव में "मंगलाचरण" में भगवान की वन्दना की जाती है ताकि नाटक सफलतापूर्ण खेला जाए। लेकिन नाटककार मणि मधुकर ने आधुनिक युग में मंगलाचरण का प्रयोग विडम्बनात्मक रूप में किया है। भगवान से बढ़कर दर्शकों को नाटककार ने महत्त्व दिया है क्योंकि नाटक दर्शकों द्वारा नकारा या स्वीकारा जाता है।

"ख्याल भारमली" में नाटककार हमीदुल्ला ने राजस्थानी भाषा में "मंगलाचरण" का सुन्दर प्रयोग किया है। इस मंगलाचरण में परम्परा के रूप में आराध्य देवताओं - ब्रह्म, महेश, गणेश, सरस्वती आदि

की वन्दना की गई है और नाटक सुचारू रूप में प्रस्तुत हो, इसी प्रकार की अभिलाषा भी व्यक्त की है। इतना ही नहीं, इस मंगलाचरण में नाटककार ने दर्शकों का भी खयाल रखा है और कहा है - ये दर्शक नाटक को अच्छी तरह जानने वाले हैं। वे नाटक का आशय, नाटक में प्रतिबिम्बित विचार जान सकते हैं। अतः दर्शकों की आशीष स्वीकार कर यह नाटक सफल हो, ऐसी कामना भी की गई है। अतः

'बोलां पहले, पहला पहले, पहले सुमरूं सिरजनहार,
ईश, महेश, गणेश ने सुमरूं सगला दीन धरम अवतार।
सरस्वती पुत्रां ने सुमरूं, ई रचना - रा सिरजनहार,
रचना - रा पातर ने सुमरूं, पेस करण-रा भागीदार। अब
सुमरूं दरसक सुजान ने, भूला ने न करे विचार सगरा
सुभ आशीष मान सूं, हो जावे लो बड़ो पार।'

इस प्रकार "मंगलाचरण" का परम्परा के रूप में प्रयोग किया है।

2.7 सूत्रधार - अभिनेत्री का प्रयोग

"ख्याल भारमली" लोकधर्मी नाट्य हैं। अतः इन नाटकों में सूत्रधार की भूमिका अनन्य साधारण है। सूत्रधार कभी कथा को आगे बढ़ाने की व्याख्या करता है, कभी कथा को आगे बढ़ाता है, कभी व्यंग्य करता है और कभी पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है। इतना ही नहीं कभी स्वयं नाटक में किसी पात्र का अभिनय करता है।

"दुलारी बाई" नाटक में सूत्रधार और अभिनेत्री का प्रयोग इसीलिए किया है। सूत्रधार दुलारी का परिचय देता है। साथ-साथ आधुनिक राजनीति पर व्यंग्य करता है। कथा को आगे बढाने में सहायक साबित होता है। अभिनेत्री की भूमिका भी इसीतरह है। वह पात्रों को बताती है - "देखो, अपनी नाट्य-मण डली में कुल पांच जने हैं - एक, दो, तीन, चौथा वो सूत्रधार और पांचवा ..... जाने क्या नाम हे उसका, लेकिन नाटक में पात्र कई हैं। मुझे तो शुरू से आखिर तक दुलारी बाई ही बने रहना है। तुम तीनों को तमाम पात्रों की एक्टिंग करनी है - नाम बदल कर - "6 इस नाटक में नौटंकी, बहुरुपिया (भांड) आदि लोकधर्मी नाट्यरूप पाये जाते हैं।

2.8 भोपा-भोपी का प्रयोग

"ख्याल भारमली" जयपुरी ख्याल में लिखा गया है। कुछ मात्रा में "कीर्तनियां" का स्फुट मिलता है। अतः ख्याल की विशेषता में सूत्रधार-नटी भोपा-भोपी के रूप में आते हैं। सूत्रधार और नटी का कार्यभार भोपा-भोपी संभालते हैं। मंगलाचरण के बाद भोपा-भोपी खेल की कहानी के बारे में बताते हैं। कहानी भले ही पुरानी हो फिर भी वह भेस बदलकर नयी हो गई है। भोपा-भोपी भारमली और उमादे का वर्णन करते है। भारमली चंचल, रंगरसिया नारी है जिसे पूरे वर की तलाश है। उमादे को अपना हट प्यारा है, उसे आन प्यारी है। इतना ही नहीं वह अपने पास ही है। यथा :

"भोपा: उसमें है एक चंचल नारी,
दूजी को अपनी हट प्यारी।
भोपी : समझ गयी मैं, जान गयी मैं,

नोट्स

दोनों को पहचान गयी मैं।

भोपा: एक तो है रंग रसिया नारी,
एक को अपनी आन है प्यारी।

भोपी : एक को पूरे वर की तलाश है,
एक सिमट के अपने पास है।"

फड में अंकित चित्रों की ओर संकेत करते हुए भोपा बताता है कि एक जीवन को जीना चाहती है जबकि दूसरी का जीवन शूल की तरह है। भोपा-भोपी भारमली और उमादे का नाम, नगर का पता बताते हैं और यह भी बताते हैं कि उमादे की शादी अजमेर के राजा से हुई। उसके साथ ससुराल में भारमली को भी भेजा गया। उमादे की सुहाग रात में मालदेव महल में आया, तब उसने भारमली को वहाँ देखा। यहाँ तक की घटना का भोपा-भोपी वर्णन करते हैं। मालदेव और भारमली, उमादे और संकरिया, मालदेव ओर भारमली के संवाद के बाद भोपा-भोपी मंच पर फिर से उपस्थित होते हैं। भारमली के नये रूप का वर्णन करते हैं जो खुले गुलाब की तरह खिलखिला उठा है जबकि उमादे का चेहरा मुरझा गया है। इतना ही नहीं वे बुरे की व्याख्या भी करते हैं–

'भोपा : खेल समझ का। पर यह जानूं। इतना
मानूं। मन का खोटा, होता छोटा।

भोपी : भला - बुरा क्या?

भोपा : जो कोई अधिकार हड़प ले। या जो
अविश्वास दिखाये वही बुरा है।'

अर्थात जो मन का खोटा होता है वही बुरा होता है। साथ ही जो दूसरे का अधिकार छिन ले और दूसरों का अविश्वास दिखाये वही बुरा है।

इस प्रकार नाटक में भोपा-भोपी के प्रयोग से कथा को आगे बढ़ाया गया है।

2.9 गायन मण्डली का प्रयोग

लोकधर्मी नाट्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गायन-मण्डली का निरन्तर मंच पर उपस्थित रहना। लोकधर्मी नाट्य बिना गायन-मण्डली के बेजान लगता है। गायन-मण्डली द्वारा मंगलाचरण, पात्रों का परिचय अर्थात चरित्र चित्रण, अगले दृश्य की जानकारी, पात्रों की मनोदशा, यथार्थता का ब्यौरा, दृश्य परिवर्तन आदि की जानकारी दी जाती है। इससे नाटक को एक गति मिल जाती है।

"ख्याल भारमली" नाटक में भी गायन मंडली का प्रयोग पर्याप्त किया गया है जिसका विवेचन इस प्रकार दिया जा सकता है–

अ.क्र.	पृष्ठ	गायल मंडलों का प्रयोग किस लिए है?
1.	31	मंगलाचरण
2.	36	उमादे का सिंगार बह गया, उसकी दुःखद स्थिति
3.	38	उमादे की सुखद स्थिति

4.	42	भारमली और मालदेव का टिकडी खेल
5.	52	भारमली की तड़पन
6.	55	भारमली की दुखद मनोदशा, वैद्य – ओझा का प्रवेश
7.	56	भारमली की चुप्पी, कवि – भारमली की भेंट
8.	57	भारमली नये वर की तलाश में निकली
9.	60	बाघाजी (भारमली का तीसरा प्रेमी) भारमली का मिलन वर्णन
10.	63	स्वामी का वर्णन
11.	67–68	अन्त – शोषितों की दास्तान

उपर्युक्त आरेख से संक्षिप्त जानकारी मिल जाती है।

मालदेव और उमादे की शादी हो जाती है। सुहाग रात में उमादे शृंगार कर रही है। इतने में मालदेव कक्ष में आता है। उमादे का उमादे शृंगार पूरा नहीं हुआ था। अतः वह दासी भारमली को मालदेव के अन्त:पुर में भेज देती है। मालदेव भारमली को सौंदर्य और चंचलता देखकर अपने को रोक नहीं सका। उसने भारमली को अंकशायिनी बना दिया। जब उमादे ने यह देखा तो वह टूट गयी, बिखर गयी। रानी ने साज शृंगार मालदेव के लिए किया था। लेकिन वह वही रह गया। नयनों में जो काजल लगाया था वह आसुओं की वजह से बह गया। दासी भारमली महारानी बन गयी। अतः ठकुरानी उमादे मालदेव से रुढ गयी। इसका वर्णन गायन मंडली ने बहुत कम शब्दों में लेकिन यथार्थ किया है–

"रानी का सिंगार रह गया,

सारा कजरा नयन बह गया।

रूठ गयी रानी ठकुरानी,

दासी बन बैठी महारानी।"

गायन मंडली द्वारा भारमली की मनोदशा, उसका दु:ख–दर्द का वर्णन बडी बेखूबी से किया गया है भारमली का सपना राजा ने उसे न पहचानने के कारण टूट गया। महलों में राजा मालदेव के सम्मुख उसने पूर्ण समर्पण किया। लेकिन वह उसका वर नहीं था सिंदूर नहीं था उसका राजा पर कोई अधिकार नहीं था जिसको उसने पति के रूप में स्वीकारा था, वह अधूरी आकृति है। वह एक उच्च कुलीन राजा है। उच्च कुल के बोझ तले उसकी आत्मा दबी हुई है। भारमली के हाथों में महेंदी रची है जो उसे नागफनी की तरह लगती है। क्योंकि भारमली दासी है, नीच कुल की है। कुछ पंक्तिया देखिए–

"टूटा सपना भारमली का

जब यह जाना उसने,

नहीं है कोई,

महलों में उसका।

उसका वर

सिन्दूर नहीं है,
राजा पर अधिकार नहीं है।
जिसको उसने पति स्वीकारा,
एक अधूरी आकृति है।
उच्च कुलों की दीवारों के
बोझ तले वह दबी हुई है।

2.10 भारमली की लोककथा

हमीदुल्ला ने नाटक "ख्याल भारमली" की भूमिका में "भारमली की कथा" बताई है। कथा काल विक्रम संवत् 1580-1619 बताया है। इससे स्पष्ट है भारमली की कथा सत्यकथा होने के साथ-साथ पीढ़ी दर पीढ़ी लोककथा के रुप में जीवित रही है, जिसे शब्दवद्ध, संगीतबद्ध, लयबद्ध करने का महान कार्य हमीदुल्ला ने किया है।

जैसलमेर के राजा लूणकरन की पुत्री उमादे का अजमेर के राजा मालदेव के साथ हुआ। उमादे के साथ दासी भारमली भी अजमेर आयी जो उसी के साथ पली-बढी थी। सुहागरात को रानी उमादे शृंगार कर रही थी। अतः उसने मालदेव के कक्ष में दासी भारमली को भेजा। भारमली के रूप पर आसक्त होकर वासना रूपी भेडिया मालदेव ने भारमली को अपनाया। उमादे ने यह देखा और वह रूठ कर मायके चली गई। राज्य पर शेरशाह सूरी के हमले का खतरा बढ़ गया। राज्य के सरदार राजा का उत्तराधिकारी चाहते थे। रानी उमादे को मनाने के लिए राजा ने कवि ईसरदास को भेजा क्योंकि दासी भारमली की कोख से जन्मा शिशु राजा का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता था। क्योंकि वह नीचे कुल की एक दासी थी।

भारमली को इससे चोट लग गई। उसे दरबारियों और राजा ने पहचानने से इन्कार किया। भारमली बीमार हो गयी। वैद्य, ओझा आया, उन्हें बीमार का पता न चला। कवि ने उसकी पीड़ा पहचानी। उसने स्थल बदलने का परामर्श दिया। वह इस परामर्श से प्रसन्न हुई और उसने बाघा को अपनाया। राजा को इसकी सूचना मिलते ही उसने स्वामी द्वारा उसे वापस लाने की तरकीब खोजी। स्वामीजी ने अपने शिष्यों को भेजकर भारमली को अपने पास लाया और उसे मालदेव और स्वामी की भोग्या रहने के लिए विविश किया। यही सामंत काल की "भारमली" नामक नारी की वेदना थी।

2.11 लोकसंवाद ओर लोकभाषा

लोकसंवाद में खण्डित संवाद, लयात्मक संवाद, छोटे संवाद, बड़े संवाद होते हैं। ये सभी प्रकार के लोकसंवाद "ख्याल भारमली" में देखने को मिलते हैं। मनुष्य की मन्नस्थति पर उसके संवाद अवलंबित होते हैं। जब उसका मन टूटा-विखरा होगा तब उसके संवाद भी टूटे-बिखरे और खण्डित होंगे। मन की स्थिति का जीता जागता आईना उसके संवाद हैं। जब मनुष्य स्थिरचित्त होता है तब उसके संवाद संयत होते हैं। उसके साथ-साथ कटोरीमल, ननकू, चिमना, गंगाराम इनके भी व्यक्तित्व कहीं-न-कहीं खण्डित हुए हैं।

"ख्याल भारमली" में भारमलो और मालदेव, स्वामी और भारमली के संवाद खण्डित हैं। भारमली, मालदेव और स्वामी प्रेम और यौन के धरातल पर खण्डित है। भारमली प्रेम की तलाश में है। वह पूर्ण

समर्पण करती है फिर भी मालदेव उसके लिए एक पूर्ण पुरुष नहीं बन सका। मालदेव और स्वामी यौन संबंधों को महत्त्व देते हैं। साथ ही नारी को मात्र एक भोग्या समझते हैं। अत: इनके संवाद देखिए–

"भारमली : आप करे विश्राम, महाराज।

मालदेव : नींद आ गयी, तो ....

भारमली : नींद? मदिरापान करें, महाराज।

मालदेव : तुम बहुत सुन्दर हो, डावडी ।

भारमली : मैं, ... ? वीणा बजाऊँ ? .... कुछ गाऊँ ? .. नाचू?

"स्वामी : सुन्दर । बहुत सुन्दर । बहुत .... बहुत सुन्दर । सुन्दरी ..... और यह संकरिया .. ।

भारमली : रहते थे साथ , हम दोनों महलों में। हम चाहते थे ....पर नहीं हो सका वो ....।

"ख्याल भारमली" नाटक में भोपा-भोपी के संवादों में लयात्मकता है। यथा :

"भोपा : राजस्थान की बात पुरानी।

भोपी : सामन्तों की राज कहानी ।

भोपा : जैसलमेर था नाम नगर का।

भोपी : लूनकरन का राज अमर था।

भोपा : बेटी उसकी महल लली थी।

भोपी: उमादे एक रूप-कली थी।"

"ख्याल भारमली" में वैसे तो बहुत ही छोटे संवाद है। पूरे नाटक में दो-तीन संवाद छोड़कर बाकी सारे संवाद एक, दो या तीन वाक्यों में है। निम्न उदाहरण देखिए–

"मालदेव : भारमली ।

भारमली : अन्नदाता !

मालदेव : चुप क्यों हो ? बोलो कुछ ।

भारमली : कितनी है रात बाकी?

मालदेव : रात का एक पहर शेष है।

भारमली : रात को आज्ञा दो ठहर जाये।

मालदेव : शरीर के सम्मिलन का नशीला बन्धन । मादक समर्पण।

भारमली : इतना कुछ पा लिया है आज की रात। कैसे सहजूं इसे ? मैं एक डावडी।

मालदेव : डावडी नहीं हो तुम । रानी हो मेरी। महलों में राज करो।

उपर्युक्त संवाद में छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भारमली और मालदेव की बातें स्पष्ट हो जाती हैं। मालदेव और भारमली एक राजा और एक दासी न रहकर एक स्त्री-पुरुष बन गये है। ऐसे उन्मादी क्षण में भारमली

नोट्स

चाहती है कि यह रात कभी न खत्म हो जाये। भारमली एक दासी होकर बहुत कुछ पाने का एहसास करती है। तब मालदेव उससे कहता है कि तुम दासी नहीं है, रानी हो और रानी की तरह महलों में राज करो। मालदेव उस उन्मादी क्षण में दासी और रानी का अन्तर भूल गया। यह और कुछ नहीं, सेक्स के धरातल पर मालदेव की कमजोरी ही हैं।

लम्बे संवाद बहुत कम देखने को मिलते हैं। भारमली-रावजी के स्पर्श का वर्णन उमादे को बताती है तब उसका संवाद कुछ लम्बा है। भारमली द्वारा राजा मालदेव का चरित्र चित्रण, नीच कुलीन भारमली की तड़पन आदि कुछ इने-गिने बड़े संवाद हैं।

"ख्याल भारमली" में एक बात देखने को मिलती है और वह है- संवादों की पुनरावृत्ति। उमादे ने भारमली को राजा के साथ देखा और वह वापस अपने कक्ष में आ गई। तब वह संकरिया को आँखों देखा हाल बताती है और कहती है, आज रात नींद नहीं आयेगी। संकरिया यही वाक्य दोहराता। यथा-

"उमादे : आज रात नींद नहीं आयेगी।

संकरिया : आज रात नींद नहीं आयेगी।

मौखिक लोकसाहित्य और लोकोक्तियों का घनिष्ट संबंध है। लोकोक्ति से जीवन के सत्य प्रकट होते हैं। इसीलिए अन्य लोक साहित्य से लोकोक्ति स्वभाव और प्रयोग में भिन्न होती है। "यह ग्रामीण जनता का नीतिशास्त्र है। लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिनमें बुद्धि और अनुभव की किरणें फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियाँ प्रकृति के स्फुल्लिंग (रेडियो - ऐक्टिव) तत्वों की भाँति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती हैं। लोकोक्ति साहित्य संसार के रीति-साहित्य (विजडम - लिट्रेचर) का प्रमुख अंग है। सांसारिक व्यवहारपटुता और सामान्य बुद्धि का जैसा निदर्शन कहावतों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकोक्ति के विषय में इस चर्चा से प्रकट होगा कि कहाँ तक लोकोक्ति का संकुचित अर्थ लिया गया है। लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है। ऐसे लोकोक्ति का प्रयोग नाटककार अपने नाटक में उचित स्थान पर करते हैं।

"ख्याल भारमली" में मुहावरों का प्रयोग उचित किया गया है। रंग जगाना, ढंग किया, खेल दिखाया, ठाठ जमाना आदि मुहावरे देखने को मिलते हैं।

2.12 अंग्रेजी शब्द और भाषा का प्रयोग

स्वातंयोत्तर युग में विशेषत: उच्च वर्णीय लोग अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने लगे। साथ-ही अंग्रेजों की नौकरी करने वाले निम्न जातीय लोग भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने लगे। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका अंग्रेजी में ही प्रयोग होने लगा, जैसे थियेटर, "रेलगाड़ी", "बूट", "चपाती" आदि। मणि मधुकर और हमीदुल्ला ने अपने नाटकों में लोकभाषा के प्रयोग के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया है।

"ख्याल भारमली" में भी अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया है। मालदेव ओर दरबारी आधुनिकता पर

व्यंग्य करते हैं। "यस सर, नो सर, ग्रांड आइडिया, वेरी करेक्ट, जस्ट पोसिबल, इंटेलेक्च्युअल, आदि छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग इसमें किया गया है। साथ ही भारमली और बाघा के संवाद अंग्रेजी में मिलते हैं जो आधुनिकता के द्योतक हैं।

2.13 लोकगीत

"भावुक तत्व से मनुष्य या प्राणी जुड़ा रहता है। इन्हें आवेग या ऐमोसन्स कहा जाता है। आवेग एक सकल शरीरी प्रक्रिया है। शरीर का प्रत्येक अवयव आवेग से आक्रानत होकर किसी-न-किसी प्रकार की गत्यात्मकता से युक्त रहता है। इसी के अधीन कण्ठ से स्वर भी फूटता है। यह आवेग लययुक्त होता है। ताल उसकी लय को हृदय और प्राण से मिलती है। अतः मानव का परिचय पहले लय ओर तालयुक्त स्वर से होता है। स्वर उसे प्रिय लगता है। उसकी भावनाओं के अनुसार उसके स्वर में लय-ताल आ जाता है। इसे व्यक्त करने के लिए "शब्द" के माध्यम ने जन्म लिया। आज के लोकगीत के स्वर और शब्द परस्पर गुंथे रहते हैं। अतः लोकगीत स्वरप्रधान है या शब्दप्रधान यह कहना कठिन हो जाता है। ऐसे लोकगीतों का और मनुष्य का गहरा संबंध है क्योंकि लोकगीतों में भावना अकेले ही नहीं आती, उस में प्रकृति के उपकरणों के बीच हृदय की अनुभूतियाँ तरंगित होकर बहती हैं, आदमी के चारों ओर की दुनिया की सच्ची धड़कन लोकगीतों में रहती है। लोकगीतों में राष्ट्रप्रेम, विश्वबन्धुत्व आदि का स्फुट रहता है। इनका उद्देश्य महान होता है। लोकगीत हमारी भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।

लोकगीत आकार में छोटे होते हैं। से केवल चार पक्तियों में होते है, जो अक्सर मनुष्यों के विभिन्न संस्कारों पर गाये जाते हैं। लोकगीतो में गेयता होती है। लोकगीतों में मनुष्य की भावनाओं के साथ-साथ इतिहास, काव्य, पुराण, राजनीति, लोककथा का भी समावेश होता है।

अर्थात कल्लू भांड भेस बदल कर आया है।

"ख्याल भारमली" में लोकगीतों का प्रयोग किया गया है। कुल-मिलाकर तीन गीत इस नाटक में है। यथा :

(1) "रानी का सिंगार रह गया,
सारा कजरा नयन बह गया।
रूठगयी रानी ठकुरानी ,
दासी बन बैठी महारानी।"

(2) "रात - रानी से सुगन्धित, रात के क्षण।
रात - भर रोती रही, रानी अभागन ।
कापती काया, लरजता मन का मोती,
जैसे डस जाये कोई जहरीली नागन।"

नोट्स

(3) "चली रे चली -

देखो भारमली।

आँखों में संताप घनेरा,

भरमाया, मुरझाया चेहरा।

चली रे चली, देखो भारमली।

एक पूरे वर की तलाश में,

एक नये घर की तलाश में।

चली भारमली।"

उपर्युक्त पहले दो गीत उमादे का वर्णन करते हैं तो तीसरा गीत भारमली का वर्णन। उमादे रानी जब मालदेव के कक्ष में साज-शृंगार करके गयी तब उसने देखा - भारमली और मालदेव एक-दूसरे के बाहों में हैं। भारमली ने उमादे का विश्वास तोड़ दिया। रानी के शृंगार की वजह से उसका काजल बह गया। रानी उमादे रूठ गयी और दासी भारमली ने उसके अधिकार छिन लिए, खुद रानी बन गई। दूसरे गीत में उमादे की स्थिति उस रात क्या हुई? इसका वर्णन है। उमादे के लिए पहले तो वह रात सुगन्धित थी लेकिन भारमली के कारण वह अभागन बन गयी, रात-भर रोती रही। रोने से उसका शरीर कापता रहा। जिस प्रकार कोई जहरीली नागन डस लेती है उसी प्रकार भारमली उसके लरजते मन रूपी मोती को डस गई है।

तीसरा गीत भारमली पर है। भारमली को मालदेव ने ठुकरा दिया। अत: भारमली नये वर की तलाश में चल पड़ी। उसकी आँखों में संताप घना छाया है। चेहरा रोने से मुरझाया है। अत: भारमली नये वर, नये घर की तलाश में चली है।

2.14 लोकनृत्य

लोकनृत्य वस्तुत: प्राकृतिक नृत्य है। लोकनृत्य आप-ही-आप प्रकट नहीं होता। मनुष्य की भावुकता का जहाँ प्रकटीकरण होगा वही किसी-न-किसी रूप में लोकनृत्य प्रकट होगा। जीवन में कोई ऐसे खुशी के क्षण होते हैं तब मुँह से शब्द नहीं निकलते तब नृत्य के द्वारा अपनी खुशी का इजहार लोग करते हैं। कभी नृत्य, संगीत और गीत के त्रिवेणी संगम में मनुष्य अपने को झाँक देता है। इन नृत्यों में कला झन-झनकर समाई होती है। विशेषत: आदिम और जंगली जातियों में जो नृत्य पाये जाते हैं वे प्राकृतिक, सशक्त होते हैं। लोकनृत्यों का विषय जीवन-चक्र से सम्बन्धित होता है। यौन संकेत, कृषि तथा संतति-वृद्धि, भूत-प्रेत निवारण, जादू-टोना, ऋतु आवाहन, विवाह, जन्म-मृत्यु ये सभी किसी-न-किसी रूप में संकेत होते हैं। यह संकेत मुद्राओं और प्रतीकों द्वारा प्रकट होते हैं। नृत्य, विषय के अनुसार भिन्न होते हैं। "लोकनृत्यों का जन्म तीन वासनाओं की प्रक्रियाओं से हुआ हैं- आकर्षक को उपलब्ध करने की चेष्टा से, अनाकर्षक से बचने की चेष्टा से तथा इन चेष्टाओं के लिए रोने के रूप में प्रत्येक नृत्य में किसी-न-किसी प्रकार

के टोना-संकेतों से मेघ-वर्षा के लिए नृत्य किए जाते हैं। लोकनृत्य देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, देवताओं का शरीर में आवाहन करने के लिए और किसी अनुष्ठानिक अवसर पर लोकनृत्य किए जाते हैं। कहना गलत न होगा कि शास्त्रीय नृत्य का मूल आधार लोकनृत्य ही है। लोकनृत्य एक प्रकार से मूकाभिनय ही होता है।

"ख्याल भारमली" में भोपा-भोपी का नृत्याभिनय है। नगाड़े के ताल पर भोपा-भोपी का नृत्य नाटक में देखने को मिलता है। नाटक के प्रारम्भ में भोपी गोलाई में घूमकर मंच पर प्रवेश करती है। नृत्य-मुद्रा में झाड़ू लगाकर चली जाती है। भोपा उसी ताल में मशक के साथ पानी छिड़कने का अभिनय करते हुए मंच पर प्रवेश करता है। भोपा मंच पर गोलाई में घूमकर पानी छिड़कने का अभिनय करके चला जाता है। नगाडा बदसुर बजता है। भारमली की कथा का चित्र मंच पर लेकर दो कलाकारों का प्रवेश होता है। भोपा-भोपी चित्रों की ओर संकेत करते मंच पर विभिन्न नृत्य-मुद्राओं में घूमते हैं। भारमली का और उमादे का परिचय देते हुए उनके चित्रों की ओर संकेत किया जा सकता है।

भारमली और बाघा का आधुनिक नृत्य है। पाश्चात्य देशों में स्त्री-पुरुष द्वारा "पार्टनर डान्स" किया जाता है। वही डान्स भारमली और बाघा आधुनिक काल में प्रवेश करते हैं तब करते है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि "लोकधर्मी नाटकों की मंच-सज्जा में नृत्य की गतियों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। जहाँ चारित्रिक उपयोगिता के आधार पर शुध्द नृत्य अर्थात ताल लय में बन्धे कुछ नृत्य-पद संचालन प्रभावकारी सिद्ध होते हैं, वही नृत्य-मुद्राएं और मुकाभिनय का नाट्य में कल्पनाशील प्रयोग किया जाता है।

2.15 लोकवाद्य

लोकधर्मी नाट्य में विशेषत: लोकवाद्यों का प्रयोग किया जाता है। जिससे नाट्य के गीतों पर लोकरंग चढ़ सके। लेकिन साठोत्तर काल में उनके साथ-साथ पाश्चात्य संगीत के वाद्यों का प्रयोग भी किया जा सकता है। लोकवाद्यों में झांझ, करताल, बासुरी, डफ, तबला, नगाड़ा, मजीरे, चिकारा, हारमोनियम, ढोलक, पेपा आदि आते हैं। और "ख्याल भारमली" में प्रासांगिक रूप में उपर्युक्त वाद्यों का प्रयोग किया गया है।

ये वाद्य इस प्रकार हैं–

"ख्याल भारमली" नाटक में संगीत योजना का संकेत दिया गया है, उसी के अनुसार कुशल निर्देशक के निर्देशन में लोकवाद्यों का प्रयोग करके संगीत निर्मिति की जा सकती है। नाटक में विशेषत: नगाड़े की ध्वनि का उल्लेख किया है। नगाडे के ताल पर कलाकारों का प्रवेश, भोपा-भोपी का नृत्य, दरबार का दृश्य आदि के समय किया गया है। इसके अलावा उमादे और भारमली की वेदना को स्पष्ट करने के लिए बासुरी का प्रयोग किया जा सकता है। भारमली और बाघा के दृश्य में आधुनिक पाश्चात्य वाद्यों के प्रयोग से संगीत निर्माण किया जा सकता है। नाटक के अन्त में "कीर्तनिया" शैली का प्रयोग है। कीर्तन में इकतारा ओर करताल का प्रयोग किया जा सकता है।

दोनों नाटकों में मंगलाचरण का प्रयोग किया गया है जिनमें कुछ लोकवाद्यों का प्रयोग अवश्य किया जा सकता है।

2.16 पूर्वदीप्ति शैली

पूर्वदीप्ति शैली को अंग्रेजी में 'Flash Back' कहा जाता है। हिन्दी नाटकों में पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग दिखाई देता है। "ख्याल भारमली" दोनों नाटकों में इसका प्रयोग मिलता है।

"ख्याल भारमली" भारमली की दास्तान है, फिर भी उस दास्तान में मालदेव और उमादे को भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उमादे का अधिकार भारमली द्वारा छीना गया। अत: वह राजमहल को छोड़कर अपने मायके चली जाती है। लेकिन राजा को एक दिन दासी और रानी का फर्क महसूस होता है। मालदेव उसकी याद में तड़प उठता है। मालदेव कहता है- "आज अचानक उमादे की याद ने। छीन डाला गहरे, बहुत गहरे तक मन को। उमादे के मेहंदी रचे हाथ। अग्नि की साक्षी।" यहाँ पूर्वदीप्ति का प्रयोग किया है। राजा को शादी के दिन की याद आती है।

भारमली के पूरे जीवन का पूर्वदीप्ति शैली में भारमली ने वर्णन किया है। यौवन की दहलीज पर उसे संकरिया मिला। दिन भर वह राजमहल में राजकुमारी उमादे की चाकरी करती थी। जब साँझ होती तब वह संकरिया के साथ अपने मिलन के सपने देखती। लेकिन एक दिन उमादे की शादी हुई। उमादे के साथ भारमली और संकरिया भी अजमेर आयी। भारमली मालदेव की वासना पूर्ति का साधन बनी। तब भारमली में अहम् और स्वार्थ था। महारानी बनने की ख्वाहिश थी। लेकिन जब उत्तराधिकारी की बात उठी तब पंख कटे पक्षी की तरह भारमली की स्थिति हुई। उस वक्त उसे बाघा का सहारा मिला। जिस पूर्ण पुरुष की तलाश भारमली को थी, वह उसे बाघा के रूप मिली। लेकिन कुछ ही दिन में बाघा से उसका मन ऊब गया उसने बाघा को छोड़ दिया और संकरिया के पास लौट गयी। लेकिन संकरिया दबी हुई चिंगारी जैसा आज उसके साथ है। जिस पूर्ण पुरुप की उसे तलाश थी वह नहीं मिला। उसका जीवन अधूरा रहा। इस प्रकार पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग हमीदुल्ला ने किया है।

2.17 हास्य और व्यंग्य

"ख्याल भारमली" नाटक में भी हास्य-व्यंग्य निर्मिति को स्थान मिला है। अजमेर के राजा मालदेव द्व ारा दासी भारमली को रानी बनाना और कुछ समय बाद दरबार में दरबारियों द्वारा उसे रानी के रूप में नकारना, मालदेव और दासी भारमली का मंच पर टिकडी का खेल खेलना, राजा मालदेव को छोड़कर भारमली का सरदार बाघा घाडेत से मिलना और दोनों का पति-पत्नी जैसे साथ रहना और बोलते वक्त अंग्रेजी शब्दों का बार-बार इस्तेमाल करना और ये दिखाना मानो वे दोनों इंग्लैंड या अमेरिका से आकर भारत में स्थित हो गये हों आदि घटनाएँ हास्य-व्यंग्य के उत्कृष्ट स्थल हैं।

2.18 निष्कर्ष

"ख्याल भारमली" में लोकनाट्य शैली के अनेक प्रयोग लोकधर्मी नाट्य परम्परा को उजागर करने में सहायक हुए हैं। उपर्युक्त नाटकों में मंगलाचरण, सूत्रधार-अभिनेत्री तथा भोपा-भोपी का प्रयोग नाटक की कथावस्तु और पात्रों के चरित्र चित्रण को दर्शाने के लिए की गयी है। गायन मण्डली के द्वारा भारतीय परम्परागत लोकनाट्य शैली का प्रयोग नजर आता है और "ख्याल भारमली" के नाटक के अन्त में "कोरस" शैली का प्रयोग पारसी रंगमंच की याद दिलाता है। दोनों नाटकों में लोककथाओं का प्रयोग रोचकता लाता है और साथ-ही-साथ लोकधर्मी नाट्य परम्परा की प्रतिष्ठा को भी स्थापित करता है।

2.19 अभ्यास प्रश्न

1. मंगचलारण की विशिष्टता से क्या है? समझाइये
2. गायन मण्डली के क्या प्रयोग हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. भारमली की लोककथा पर लेख लिखिए।
4. लोकसंवाद ओर लोकभाषा को स्पष्ट कोजिए।
5. अंग्रेजी शब्द और भाषा का प्रयोग पर लेख लिखिए।
6. लोकगीत क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।
7. लोकनृत्य, लोकवाद्य के बारे में बताइये।
8. पूर्वदीप्ति शैली क्या है? स्पष्ट कीजिए।
9. हास्य और व्यंग्य से क्या तात्पर्य है? समझाइये।

2.20 संदर्भ पुस्तकें

- वर्मा, डॉ. धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 और भाग-2. वाराणसी : ज्ञानमण्डल प्रकाशन
- डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन तिवारी,
- डॉ. रामचन्द्र. हिन्दी का गद्य-साहित्य, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
- चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन

नोट्स

- गुप्त, गणपतिचन्द्र. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (द्वितीय भाग), इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन
- डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
- तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
- हमीदुल्ला हर बार वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्मरण- 1986, पृ. सं. 24
- हमीदुल्ला उलझी आकृतियों भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973, पृ. सं. 178
- हमीदुल्ला ख्याल भारमली शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली. प्रथम संस्करण 1981 प.सं. 64, 65
- हमीदुल्ला अपना-अपना दर्द भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974. पृ. सं. 122 10. हमीदुल्ला, जैमती, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ. सं. 37.
- हमीदुल्ला, जैमती, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ.सं. 43
- हमीदुल्ला, ख्याल भारमली शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम, संस्करण 1981., पृ.सं. 50.
- ख्याल भारमली - हमीदुल्ला, प्र.संस्क. नवम्बर 1981, पृ.31
- ख्याल भारमली - हमीदुल्ला, प्र.संस्क. 1981, पृ.32-33
- हिंदी साहित्य कोश भाग 1 - सम्पा.धीरेन्द्र वर्मा, द्वि. संस्क.संवत् 2020, पृ.754
- लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, संस्क. 1970, पृ. 325
- सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति अंक - सम्पा. श्रीसमनाथ "सुमन" पृ. 196 संवत् 2010 वि. लेख : लोकसाहित्य में लोकजीवन की व्यापक अनुभूति लेखक : श्री. शम्भुप्रसाद बहुगुण

इकाई-3:

राजेन्द्र यादव

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 जन्म एवं बाल्यकाल

3.4 शिक्षा-दीक्षा

3.5 राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व तथा कृतित्व

3.6 राजेन्द्र यादव : कृतित्व

3.7 लेखन का प्रारम्भ तथा प्रेरणा

3.8 बहुमुखी प्रतिभा

3.9 साहित्य की समीक्षा

3.10 सम्पादक व अनुवादक

3.11 राजेन्द्र यादव की रचना-दृष्टि तथा चिन्तन पर युग का प्रभाव203

3.12 राजेंद्र यादव के उपन्यास

3.13 राजेंद्र यादव की प्रकाशित रचनाएँ।

3.14 उपसंहार

3.15 अभ्यास प्रश्न

3.16 संदर्भ पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजेन्द्र यादव की रचना-दृष्टि तथा चिन्तन पर युग का प्रभाव के बारे में;
- लेखन का प्रारम्भ तथा प्रेरणा की जानकारी;
- राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व तथा कृतित्व के विषय में;

3.2 प्रस्तावना

किसी भी साहित्यिक कलाकृति के सही-सही मूल्यांकन के लिए साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का अध्ययन आवश्यक होता हैं। साहित्यकार अपने समय की परिस्थितियां एवं यथार्थ से प्रेरित होकर ही

नोट्स

सार्थक साहित्य का सृजन करता है। निजी जीवन की अनुभूतियों का तथा उसके समय की परिस्थितियों का एवं घटनाओं का प्रतिबिंब ही संवेदनशील साहित्यकार के साहित्य का विषय बनता है। जो हमारे सामने कहानी, उपन्यास, नाटक जैसी पृथक-पृथक विधाओं में प्रस्तुत होता हैं। हर साहित्यकार के साहित्य में उसके व्यक्तित्व की झलक होती हैं। जीवन में भोगे सुखों और अनिच्छा से प्राप्त दु:खों का सामना तथा उनसे मिली यातनाओं से ही उसकी रचना सजीवता को प्राप्त कर लेती है। इसीलिए अगर उसके कृतित्व की सही परख करनी हैं तो हमे उसके व्यक्तित्व को जानना बहुत जरूरी है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य को नया मोड़ देकर उसे वास्तविक जीवन से जोड़ने का दायित्व जिन लेखकोंने निभाया, उसमें मध्यवर्ग की हर धड़कन को अंकित करने वाले उपन्यासकार राजेंद्र यादव का नाम शीर्षस्थ हैं। "सारा आकाश' से लेकर 'मंत्रविद्ध' तक की अपनी उपन्यास यात्र में राजेंद्र यादव ने समाज एवं व्यक्ति की स्थितियों, गतियों एवं विशेषताओं को ही परिभाषित नहीं किया बल्कि उनके बाहरी तथा भीतरी रूप का चप्पा-चप्पा छान लिया है। अभावों, वेदनाओं और सुख-दुख से भरे मध्यवर्गीय जीवन सफर को शब्द बद्ध करनेवाले इस उपन्यासकारने समाज तथा व्यक्ति की सबलताओं और दुर्बलताओं को ही अपनी लेखकीय दृष्टि से स्पर्श नहीं किया बल्कि इस वर्ग की बेबसी, पीड़ा और कुण्ठाओं को भी उकेरा हैं। ऐसे साहित्यकार के उपन्यासों पर स्वतंत्र रूप से बहुत कम विवेचन हुआ हैं।

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कथा साहित्य का रिश्ता ग्रामीण जीवन से तो प्राय: विछिन्न हुआ ही साथ-साथ शहरी मध्यवर्गीय समाज में भी वह सहज विश्वसनीय नहीं हो पाया। ऐसी मरणासन्न अवस्था में उसे फिर से सप्राण और विश्वसनीय बनाने का कार्य जिम लेखकों ने किया उनमें राजेंद्र अग्रणी हैं।

हिन्दी साहित्य की सुप्रसिद्ध पत्रिका हंस के सम्पादक और लोकप्रिय उपन्यासकार थे। राजेन्द्र यादव नई कहानी आन्दोलन के जन्मदाता और हिन्दी कहानी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले श्रेष्ठ कहानीकार, कवि, उपन्यासकार और आलोचना विधाओं के लेखक हैं। इनका जन्म 28 अगस्त, 1929 को आगरा शहर में हुआ। इन्होंने अपनी कहानियों के द्वारा समकालीन परिवेश और समाज में रहने वाले पात्रों की मानसिकता का सूक्ष्म चित्रण किया है। इनका जन्म 28 अगस्त 1929 और मृत्यु: 28 अक्टूबर 2013 को हुआ था। राजेंद्र यादव ने 1951 ई. में आगरा विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिन्दी) की परीक्षा प्रथम श्रेणी, प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। जिस दौर में हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाएं अकाल मौत का शिकार हो रही थीं, उस दौर में भी हंस का लगातार प्रकाशन राजेंद्र यादव की वजह से ही संभव हो पाया। उपन्यास, कहानी, कविता और आलोचना सहित साहित्य की तमाम विधाओं पर उनकी समान पकड़ थी।

जन्मस्थान

हिन्दी के ख्यातकीर्त साहित्यकार राजेंद्र यादव का जन्म २८ अगस्त, १९२९ ई.को उत्तरप्रदेश के आगरा शहर में हुआ। आगरे के 'राजा की मंडी' नामक मुहल्ले में उनके पिता का घर हैं। इसी संयुक्त परिवार में माता-पिता की प्रथम संतान के रूप में राजेंद्र यादव का जन्म हुआ जो परिवारवालों के लिए आनंदोत्सव ही था। संयुक्त परिवार में रहते हुए परिवार के सारे सदस्य शिक्षित थे। फलस्वरूप राजेंद्र को शिक्षित माहोल और अच्छे संस्कार अनायस प्राप्त हुए। अपने व्यक्तित्व परिचय को अनावश्यक समझनेवाले इस साहित्यकार का कहना है, 'कलाकार का व्यक्तित्व, उसका परिचय, उसका विश्वास और उसकी प्रतिबद्धता

– सभी कुछ उसकी कला होती हैं। जो कुछ वहाँ नहीं है, उसका महत्व और मूल्य क्या और क्यों हो? क्षमा करना मैं उन लोगों के वर्ग में अपने को नहीं पाता, जिनके व्यक्तिगत विश्वास, व्यक्तिगत प्रतिबद्धता और जीवन अर्थात व्यक्तित्व उनके कला व्यक्तित्व से अलग होता हैं।

माता-पिता

आगरा निवासी श्री.गोकुलसिंग यादव के चौथे कमांक के बेटे थे मिस्त्रीलाल। जिन्होंने इंटर के बाद एल.एम.पी.(लायसंस ऑफ मेडिकल प्रेक्टिस) का डिप्लोमा करके डॉक्टरी पेशा अपनाया और विवाह करके वैवाहिक जीवन बीताना आरंभ किया। पर अकस्मात हयी पत्नी की मृत्यू से वैवाहिक जीवन की सुखद शृंखला टूट-सी गयी। इस घटना के दो वर्ष बाद मिस्त्रीलाल का दूसरा विवाह ताराबाई से हुआ। राजेंद्र यादव इसी दम्पती की संतान हैं। पिता मिस्त्रीलाल साहित्य के प्रति आकर्षित थे। "देवकीनंदन खत्री लिखित "चंद्रकांता संतति' उपन्यास पढ़ने के लिए उन्होंने हिन्दी सीखी थी।

राजेंद्र यादव की मां का नाम ताराबाई था। जिसका पालन-पोषन मराठी भाषी परिवार में हुआ था। इनके पिता-श्री.रामसिंग जाधव महाराष्ट्र के अमरावती के निवासी थे। पर बाद में मध्यप्रदेश के अशोकनगर में आ बसे। राजेंद्र की माताजी "ताराबाई को हिन्दी नहीं आती थी। अतः उन्हें हिन्दी सिखाने के लिए टयूटर रखा गया। उन्हें पढ़ने का खुब शौक था, परंतु वे मराठी पढ़ती थी। बाद में जब हिन्दी सीख ली तो हिन्दी पढ़ने लगी।[२]

भाई-बहन

गजें अपने परिवार में तीन भाई तथा छः बहनों के बड़े भाई है। "छः बहनों में से एक की मृत्यु हुई और शेष पाँच में से दो दिल्ली में, दो जयपूर में तथा एक अमरीका में स्थाई हो चुकी हैं। ये सारी बहने एम.ए. तक पढ़ी है। तीनों भाइयों में से दो आगरा में और एक फिरोजपुर में स्थायी हुआ है। उनमें से एक भाई इंजिनियरींग, एक बी.एस.सी. और एक बी.ए. हो चुका है। "३ यहाँ स्पष्ट होता हैं कि राजेंद्र के परिवार के सभी सदस्य शिक्षित और सुसंस्कृत हैं।

बचपन

संयुक्त परिवार में जन्मे राजेंद्र का बचपन माता-पिता और भाई-बहनों के अतिरिक्त अपने ताऊ के साथ अधिक गुजरा। अपने ताऊ के संबंध में राजेंद्र यादव लिखते हैं. – "वे कबूतरों की तरह हम लोगों की भी घेर-धार किया रखते। कबूतरों के बारे में. वे इतना जानते थे, जितना दुनिया में बहुत कम लोग जानते होंगे।

कबूतरबाजी का शौक रखनेवाले ताऊ गप्पें लडानेवाले व्यक्ति थे। इन्हीं के साथ राजेंद्र का बचपन कबूतरबाजी और पतंग उड़ाने में बीत गया। "गेंद-टप्पा, गुल्ली-डंडा लेकर भरी दोपहर में छतों पर कबूतरबाजी और पंतग उड़ाने में उनका कैशौर्य बीता' मानव समाज का कोई भी अंग त्रासदी से मुक्त नहीं हैं। संयुक्त परिवार में जन्मे राजेंद्र ने संयुक्त परिवार की असदी को अपने प्रथम उपन्यास 'प्रेत बोलते है', में अभिव्यक्त किया, जो सन् १९५२ में लिखा गया और बाद में 'सारा आकाश' नाम से बहुत प्रसिद्ध हुआ।

शिक्षा

राजेंद्र को प्राथमिक शिक्षा उर्दू में दी गई। "कैशोर्य काल में दूसरों की बाते सुन लेने का उन्हें खुब शौक

नोट्स

था। जिंदगी में सुनना और पढ़ना उनके लिए सबसे अधिक प्रेरणास्पद क्षण है।

दस ग्यारह वर्ष की आयु में राजेंद्र को आगे की शिक्षा के लिए चाचा के साथ मेरठ जिले के मवाना गाँव भेजा गया। पढ़ाई के साथ-साथ राजेंद्र को खेलकूद में भी रूचि थी। प्रिय खेल हॉकी खेलते समय राजेंद्र की दाहिनी पैर पर एक लडके ने हॉकी की स्टिक मार दी, जो जीवन में परिवर्तन करनेवाली सिद्ध हुई। इस आघात से उत्पन्न चोट पर आरंभ मामूली इलाज किये गये। और इस घटना को नजरअंदाज कर दिया। इसी नजर-अंदाजी के कारण, तथा मामूली इलाज की वहज से बाद में राजेंद्र के नसीब में विकलांगता आयी। "इसी क्षति की पूर्ति के लिए मानसिक या बौद्धिक क्षेत्र में राजेंद्र ने अपनी गतिविधियों को बढ़ाया होगा।

राजेंद्र यादव की मैट्रिक तक की शिक्षा झाँसी में अपने पिता के साथ हुई। अपनी कक्षा में राजेंद्र एक बुद्धिमान छात्र समझा जाता था। इसी बुद्धिमानता की वजह से "उन्होंने बहुत छोटी आयु में ही दुनिया के सबसे बड़े उपन्यास 'दास्तान-ए-अमीर हम्जा' को पढ़ लिया था।

राजेंद्र यादव के बचपन का काल आजादी की लड़ाई का था। कवि दिनकर की निम्न पंक्तियों ने उनके किशोर मन पर अमिट छाप छोड दी –

सेनानी, करो प्रयास अभय, भावी इतिहास तुम्हारा है ये नखत अमा के बुझते है, सारा आकाश तुम्हारा है। इन्हीं पंक्तियों के प्रभाव स्वरूप यादवजी का "प्रेत बोलते है' उपन्यास बाद में "सारा आकाश" शीर्षक पा बैठा। राजेंद्र यादव की मैट्रिक के बाद की पढ़ाई आगरे में हुयी। यही रहकर उन्होंने हिन्दी विषय लेकर बी.ए. किया और सन १९५१ में हिन्दी विषय लेकर ही एम.ए.की उपाधि प्रथम श्रेणी में हासिल की।

नौकरी के विरोधी :

एम.ए.उपाधि के द्वारा राजेंद्र किसी भी नौकरी को हासिल कर सकते थे। मन का विरोध उन्हें इस पेशे से दूर रखने में सार्थक सिद्ध हुआ। "वरना हिन्दी साहित्य संसार एक मूर्धन्य साहित्यिक से वंचित रह जाता।

अपनी संवेदनाओं को सीमित न रखने की चाह और आत्मसन्मान को बनाए रखने की तीव्र इच्छा की वजह से राजेंद्र नौकरी से दूर रहें। परिणाम स्वरूप आज वे हिन्दी साहित्य संसार के अमिट अक्षर बन चूके हैं।

पितृशोक

शरीर से विकलांग, बुद्धिमान तथा परिवार के प्रथम पुत्र होने के कारण राजेंद्र अपने पिता के सबसे लाडले बेटे बन गए थे। दिल का दौरा पड़ने से सन १९५३ में पिताजी के देहांत के साथ-साथ पिताजी की छत्रछाया और लाड-प्यार से राजेंद को हमेशा के लिए वंचित रहना पडा। इस घटना से राजेंद्र का मन विरक्ति और उदासीनता से भर गया। 'पिता की छाया और स्नेह अब इतिहास की वस्तु बन गए।'

पैत्तक संस्कार : स्वीकार और अस्वीकार :

राजेंद्र यादव को पढ़ाई के साथ-साथ खान-पान के संस्कार भी पिताजी से प्राप्त हुए थे। भोजन में उडद की दाल में घी डालकर सुखे आलुओं की सब्जी खाना और दोस्तों को खिलाना तथा उनकी हर मदद करना। ये सभी राजेंद्र पर हुए पैतृक संस्कार ही हैं। राजेंद्र कभी स्वयं को पिता की तरह नहीं बनाना

नोट्स

चाहते थे। उन्होंने पिता की सभी बातों का स्वीकार या अनुकरण नहीं किया। राजेंद्र जो बनना चाहते थे वही आज बन गए हैं। किंतु इसमें भी अपने पिताजी को वे उपस्थित पाते हैं। वे कहते हैं –

श्हाँ, मैं कतई अपना "बाप' नहीं बनना चाहता लेकिन स्वीकार–अस्वीकार और अपने समन्वय की प्रक्रिया में उन्हें मैं उपस्थित नहीं पाता यह कहना गलत हैं। अमुकरण विरोधी राजेंद्र यादव को मोहन राकेश ने बनता हुआ लेखक कहा हैं।

आगरा से कलकत्ता

आगरे की बहुत सीमित दुनिया और कुछ करने तथा बनने की ललक की वजह से राजेंद्र आगरा से कलकत्ता पहुंच गए। घर से पैसे न लेना और नौकरी न करने की जिद् को वजह से राजेंद्र कलकत्ता आकर आर्थिक कठिणाईयों में फंस गये। आर्थिक समस्या को हल करने तथा रिसर्च की और रोजी–रोटी के जुगाड के लिए राजेंद्र ने एक ट्यूशन देने का कार्य आरंभ किया। जिसे बाद में छोड़ दिया। कलकत्ता की नॅशनल लायब्रेरी में राजेंद्र बाकायदा जाते और बहुत पढ़ते रहते।

शोधकार्य की सोचनेवाले राजेंद्र यादव पढते–पढते खुद लिखने लगे और स्वयं एक शोधकार्य का विषय बन बैठे।

नौकरी

महानगर की महंगाई में अपने आपको जीवित रखने के लिए राजेंद्र यादव को कुछ रोजगार जुटाना आवश्यक था। इसीलिए उन्होंने कलकत्ता के "जानोदय' पत्रिका में सहायक संम्पादक का कार्यभार संभाला। लेकिन कुछ ही दिनों बाद त्याग पत्र देकर उस कार्यभार से स्वयं को मुक्त किया। राजेंद्र यादव स्वयं कहते है, जहाँ इच्छा विरूद्ध करना पड़ा वहाँ मैं अधिक देर नहीं रूक पाया। स्वाभिमानी स्वभाव के कारण नौकरी के पचड़े में पडना उन्हें नहीं रूचा।

उन्होंने कुछ एक महीने के लिए जियोलॉजिकल सर्वे में हिन्दी अध्यापक का काम किया था।

विवाह तथा संतान

हिन्दी साहित्य संसार की प्रसिद्ध लेखिका मन्नू भंण्डारी का परिचय राजेंद्र यादव से तब हुआ जब मन्नूजी कलकत्ते के "बालीगंज – शिक्षा सदन' में लायब्रेरी के लिए पुस्तकों की सूची तैयार कर रही थी। लेखक होने के नाते दोनों परोक्ष रूप से परिचित थे ही, पर अब प्रत्यक्ष परिचय हुआ। मन्नू भंण्डारी कलकत्ते के स्कूल में अध्यापक थी तथा लेख्न में रूचि रखती थी। इन्हीं दिनों (सन १९५६) राजेंद्र यादव का श्उखडे हुए लोग' उपन्यास प्रकाशित हुआ था। लेखन दोनों का समान बिन्दु था। २२ नवम्बर, १९५९ में राजेंद्र और मन्नू विवाहबद्ध हो गये। यह विवाह आंतरजातीय और मन्नू के घरवालों के विरूद्ध था।

राजेंद्र अपने विवाह के बारे में लिखते हैं –

लिखना और अधिक अच्छा लिखने का वातावरण बनाने का विश्वास ही हमें निकट लाया था।

लेखन दोनों के बीच समान बिन्दू था। इसी समानता के फलस्वरूप राजेंद्र यादव ने मन्नू के सहयोग से श्एक इंच मुस्कान' उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के पुरूष पात्र राजेंद्र यादव ने लिखे हैं तथा स्त्री पात्र मन्नू भंण्डारी ने लिखे हैं। १७ जून, १९६१ ई.में मन्नू ने एक लड़की को जन्म दिया। जिसका नाम रचना रखा गया। इन दिनों "एक इंच मुस्कान' का लेखन जारी था।

नोट्स

मन्नू भंण्डारी के साथ विवाहबद्ध होना राजेंद्र यादव को अत्यंत लाभदायक सिद्ध हुआ। विवाह के पहले राजेंद्र यादव का कोई मानसिक साथी नहीं था। विवाह के बाद मन्नू के रूप में राजेंद्र को मानसिक आर्थिक और साहित्यिक साथी मिल गया।

राजेंद्र यादव और मन्नूजी का नाता समस्तरीय मित्रता का नाता पहले हैं। दोनों पति-पत्नी के रूप में साथ रहते हुए, एक-दूसरे के व्यक्तित्वों का आदर करते हुए अपनी-अपनी जिंदगी जीते हैं.

राजेंद्र यादव अपने वैवाहिक जीवन के प्रति कहते है -

हमारी रूचियाँ, आदते, स्वभाव, रहन-सहन, मनोरंजन सभी कुछ प्राय: एक दूसरे के विरोधी है, लेकिन उन्हें लेकर आज तक शायद ही कभी हम लोगों में मतभेद हुआ हैं।

शादी के बाद मन्नू ने महसूस किया कि राजेंद्र गृहस्थी में उतनी रूचि नहीं रखते जितनी लेखन में रखते हैं। इसी कारण वे राजेंद्र पर आरोप लगाती हैं कि वे जिंदगी से भागते हैं, लेकिन राजेंद्र कहते हैं -

मैं जिंदगी से नहीं, जिंदगी में भागता हूँ।

दिल्ली प्रवेश

नदी की धारा की तरह अपनी जीवन धारा प्रवाहित रखना ही कलाकार को प्रिय होता हैं। इसी विशेषता के आधार पर राजेंद्र राजधानी दिल्ली की ओर आकर्षित हुऐ। कलकत्ते में अपने जीवन के अत्यंत कीमती दस साल बिताने पर उसूलों के पक्के कलाकार राजेंद्र यादव २ मई,१९६४ ई.को कलकत्ते से विदा लेकर दिल्ली आ बसे। जो आज स्थायी रूप से दिल्ली निवासी हो गए हैं।

3.3 जन्म एवं बाल्यकाल

स्वातंत्रयोत्तर सुप्रसिद्ध हिन्दी लेखक राजेन्द्र यादव का जन्म 28 अगस्त सन् 1929 को उत्तर प्रदेश में आगरा के राजा मंडी मोहल्ले में हुआ था। उनके पिता श्री मिस्त्रीलाल यादव और माता ताराबाई थी। अपने दस भाई-बहनों में राजेन्द्र यादव सबसे बड़े थे। उनके जीवन का अधिकांश समय आगरा के राजा की मण्डी में व्यतीत हुआ। उनके बाल्यकाल का विवरण बहुत ही कम उपलब्ध है क्योंकि उनका विचार है कि "कलाकार का व्यक्तित्व उसका परिचय उसका विश्वास और उसकी प्रतिबद्धता सभी कुछ उसकी कला होती है। जो वहां नहीं है, उसका महत्त्व और मूल्य क्या और क्यों हो।" राजेन्द्र यादव आरम्भ से ही मस्तमौला स्वभाव के रहे हैं। सूसीर में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे मवाना भेज दिये गये। मेरठ में अपने चाचा के यहां रहते हुए उन्होंने अपनी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की।

वहां सब कुछ ठीक ही चल रहा था, किन्तु अचानक 9-10 वर्ष की अवस्था में हॉकी खेलते हुए उनकी एक टांग टूट गई थी और वे विकलांग हो गये। इस विकलांगता ने उन्हें जीवन के प्रति एक नये सत्य व नए दृष्टिकोण से परिचित कराया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस विकलांगता के कारण उनकी शारीरिक गतिविधियां अवश्य प्रभावित हुई और अवरूद्ध भी हुई, परन्तु इस कमी को उन्होंने अपनी बौद्धिक

और मानसिक गतिविधियों को बढ़ाकर पूरा किया। बाल्यावस्था के समान ही किशोरावस्था भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में अपना असाधारण महत्त्व रखती है। राजेन्द्र यादव के जीवन में भी इस काल का विशेष महत्त्व रहा है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है "कलाकार अपने किशोर काल में अपने यथार्थ से असंपृक्त नहीं हो पाता वह या तो उसमें रस लेता है या उसे जस्टिफाई करता है, और जिन्दगी भर कला के नाम पर आत्मकथा के टुकड़े देता रहता है।"

कबीरी अंदाज में अपने व्यक्तित्व को अपने कृतित्व में ढूँढ़ने की सलाह देने वाले, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर राजेन्द्र यादव अपने या अपनी रचनाओं के संबंध में चुप्पी साधे रहना ही उचित समझते हैं। उनके मतानुसार एक ईमानदार और प्रतिबद्ध रचनाकार की रचनाये ही उसका परिचय देने के लिए पर्याप्त है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो, "एक तरह देखा जाये तो सारा ईमारदार कथा-लेखन औरों के यानी पात्रों के बहाने अपनी ही बात कहता है। कहीं बात घटनाओं, वार्तालापों और चरित्रों के स्तर पर होती है तो कभी अनुभवों, स्थितियों और उनकी प्रतिक्रियाओं के रूप में कभी इन सब अवधारणाओं, आस्था और निष्ठा की शक्ल में, होता सब 'अपना' या 'आत्मकथा' ही है।

ऐसे में "क्या ईमानदार कथा लेखक के पास ऐसा कुछ बचा रहता है कि वह अलग से 'आत्मकथा' लिख सके" 'मुड़-मुड़के देखता हूँ' के अन्तर्गत उन्होंने लिखा भी है कि 'आत्मकथा व्यक्ति की हो या संस्कृति की दोनों इस गढ़न्त से मुक्त नहीं हैं। वे स्वतन्त्र कथा-रचनाएं (फिक्शन) हैं। वास्तविक नाम और स्थान कथा को विश्वसनीय बनाने की रचनात्मक तरकीबें (डिवाइस) होती है। कथा के प्रवाह में ध्यान न बटांए इसलिए कहानी और उपन्यासों में हम वास्तविक नामों, स्थानों को बदल देते हैं। वहां मुख्य तर्क कहानी है, आत्मकथा में मुख्य तर्क व्यक्ति है। दोनों जगह विश्वसनीयता का संकट स्थितियों-घटनाओं के चुनाव में कतर-ब्योंत करता है कभी-कभी कुछ पीढियाँ अगलों के लिए खाद बनती है। बीसवीं सदी के 'उत्पादन' हम सब 'खूबसूरत पैंकिग' में शायद वही खाद हैं। यह हताशा नहीं अपने 'सही उपयोग' का विश्वास है, भविष्य की फसल के लिए बुद्ध के अनुसार ये वे नावें हैं जिनके सहारे मैंने जिन्दगी की कुछ नदियां पार की हैं और सिर पर लादे फिरने की बजाय उन्हें वहीं छोड़ दिया है।'5 राजेन्द्र यादव ने व्यक्तिगत जीवन में जो देखा, सुना, भुगता, अनुभव किया उन सबको अपने लेखन का अंग बना दिया। उनका लेखन उनके जीवन से अलग प्रतीत नहीं होता।

3.4 शिक्षा-दीक्षा

राजेन्द्र यादव के पिता मिस्त्रीलाल यादव को उर्दू में रूचि थी, अतः उनकी प्राथमिक शिक्षा उर्दू में हुई। प्रेमचंद के समान ही राजेन्द्र यादव पहले उर्दू में पढ़े और बाद में हिन्दी में आए। उनकी मैट्रिक तक की शिक्षा झाँसी में अपने पिता के साथ हुई। अपनी कक्षा में वे एक बुद्धिमान छात्र माने जाते थे। छोटी उम्र में ही राजेन्द्र को पढ़ने का शौक लगा था। पढ़ना खूब पढ़ना, सामने आई हर चीज को पढ़ना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया। राजेन्द्र यादव की शिक्षा एम. ए. तक हुई है। उन्होंने एम. ए. हिन्दी

की परीक्षा आगरा विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी से पास की। अंग्रेजी, बंगाली, उर्दू आदि भाषाओं पर भी उनका अधिकार है। अध्ययन के समान उन्हें लेखन में भी विशेष रूचि थी। साहित्य लेखन के अतिरिक्त डायरी और पत्र वे पूरे मनोयोग से लिखते थे। डायरी लेखन का प्रभाव उनके रचनात्मक साहित्य पर देखा जा सकता है। उसके अतिरिक्त वे पत्र लेखन के काम में भी सतर्क रहते थे। साहित्य लेखन राजेन्द्र यादव के जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है।

एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त राजेन्द्र यादव यदि चाहते तो वे सहज ही प्राध्यापक बन सकते थे। पण्डित जगन्नाथ तिवारी ने उन्हें अपने विभाग में लेना चाहा था परन्तु तब तक उन्हें लेखक के रूप में प्रसिद्धि भी मिल चुकी थी। स्वाभिमानी स्वभाव के कारण नौकरी के झंझट में पड़ना उन्हें पंसद नहीं था। फिर भी उन्होंने कुछ एक महिनों के लिए जियोलाजिकल सर्वे में हिन्दी अध्यापक का काम किया था। राजेन्द्र यादव के जीवन में साहित्यिक प्रेरणा के अंकुरण तभी फूटने लगे थे जब वे 'भिक्खी चाटवालों' से तरह-तरह की कहानियां सुना करते थे। इस प्रकार कथा कहानियों के संस्कार उनके मन पर बचपन से ही पड़े उनके बचपन का काल आजादी की लड़ाई का कला था। आजादी की लड़ाई में साहित्यकार भी अपना दायित्व निभा रहे थे। राष्ट्रकवि दिनकर भी स्वतंत्रता सेनानी को अपनी कविता के माध्यम से प्रेरित एवं उत्साहित करने का कार्य कर रहे थे। राजेन्द्र यादव उन्हें बहुत पढ़ते थे। कवि दिनकर की इन काव्य पंक्तियों ने उनके किशोर मन पर अमिट छाप छोड़ दी-'सेनानी करो प्रयाण अभय, भावी इतिहास तुम्हारा है, ये नखत अमा के बुझते हैं, सारा आकाश तुम्हारा है।" इन्हीं पंक्तियों के प्रभाव स्वरूप यादवजी का 'प्रेत बोलते हैं' उपन्यास बाद में 'सारा आकाश' शीर्षक हो गया।

3.5 राजेन्द्र यादव : व्यक्तित्व तथा कृतित्व

किसी भी साहित्यकार के विचारों और आदर्शों को पूर्णतः समझने और जानने में उसका जीवन और व्यक्तित्व आधार भूमि का काम करता है। अतः मानव जीवन की दिशा निश्चित करने और उसे विशिष्ट रूपाकार देने में व्यक्ति की पैतृक, पारिवारिक, युगानुरूप, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों तथा उनकी मूल प्रवृत्तियों का पर्याप्त हाथ रहता है। किसी भी साहित्यकार के व्यक्तित्व के विषय में जानने हेतु उसके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उसकी मूल प्रवृत्तियों व अभिरूचियों आदि के विषय में जानना आवश्यक होता है।

अतः उनके साहित्य के मूल में पहुँचने से पूर्व उनके जीवन में प्रवेश करना अनिवार्य होता है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसके जीवन का अभिन्न पक्ष होता है जिसमें से किसी एक पक्ष का अध्ययन दूसरे पक्ष के अध्ययन के अभाव में अधूरा-सा रह जाता है। साहित्यकार का कृतित्व एक ओर उसके व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होता है दूसरी ओर अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक हलचलों से अनुप्राणित होता है। साहित्यकार युग दृष्टा भी होता है और युग सृष्टा भी। एक ओर वह अपने युग में होने वाले परिवर्तनों, समस्याओं आदि पर नजर रखता है तो दूसरी ओर अपने साहित्य के माध्यम से एक नये युग के निर्माण में सहायता देता है।

वस्तुतः साहित्यकार के साहित्य का उद्देश्य ही क्रांति लाना होता है। इस प्रकार साहित्य के प्रति

नोट्स

लेखक के निजी दृष्टिकोण से सम्यक् परिचय प्राप्त कर लेने से उनके साहित्य को समझने और उसका विवेचन करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

राजेन्द्र यादव हिन्दी कथा-साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनका नाम स्वातंत्रयोत्तर कथा साहित्यकारों में विशेष उल्लेखनीय है। राजेन्द्र यादव मुख्यतः सामाजिक चेतना के कथाकार हैं। उन्होंने साहित्य सृजन को स्वधर्म रूप में स्वीकार किया। अतः उन्होंने अपनी सर्जकता में अर्थ व राजनीति आदि को दृष्टि में रखकर समझौता नहीं किया। वे एक मात्र साहित्य के प्रति प्रतिबद्ध बने रहें। बाहरी दबावों से मुक्त होकर अपने लेखन को स्तरीय एवं प्रमाणिक बनाये रखने का उन्होंने सदैव प्रयत्न किया। यथार्थ एवं मानव मूल्यों की खोज के प्रति भी उनका झुकाव रहा है।

हिंदी पत्रिका 'हंस 'के 25 साल और हिन्दी साहित्य के 'द ग्रेट शो मैन' राजेंद्र यादव यदि भारत में आज हिन्दी साहित्य जगत् की लब्धप्रतिष्ठित पत्रिकाओं का नाम लिया जाये तो उनमें शीर्ष पर है-हंस और यदि मूर्धन्य विद्वानों का नाम लिया जाय तो सर्वप्रथम राजेंद्र यादव का नाम सामने आता है। साहित्य सम्राट प्रेमचंद की विरासत व मूल्यों को जब लोग भुला रहे थे, तब राजेंद्र यादव ने प्रेमचंद द्वारा 1930 में प्रकाशित पत्रिका 'हंस' का पुर्नप्रकाशन आरम्भ करके साहित्यिक मूल्यों को एक नई दिशा दी। अपने 25 साल पूरे कर चुकी यह पत्रिका अपने अन्दर कहानी, कविता, लेख, संस्मरण, समीक्षा, लघुकथा, गजल इत्यादि सभी विधाओं को उत्कृष्टता के साथ समेटे हुए है।

"मेरी-तेरी उसकी बात" के तहत प्रस्तुत राजेंद्र यादव की सम्पादकीय सदैव एक नये विमर्श को खड़ा करती नजर आती है। यह अकेली ऐसी पत्रिका है जिसके सम्पादकीय पर तमाम प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाएं किसी न किसी रूप में बहस करती नजर आती हैं। समकालीन सृजन संदर्भ के अन्तर्गत भारत भारद्वाज द्व ारा तमाम चर्चित पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं पर चर्चा, मुखासर के अन्तर्गत साहित्य-समाचार तो बात बोलेगी के अन्तर्गत कार्यकारी संपादक संजीव के शब्द पत्रिका को धार देते हैं। साहित्य में अनामंत्रित एवं जिन्होंने मुझे बिगाड़ा जैसे स्तम्भ पत्रिका को और भी लोकप्रियता प्रदान करते है। कविता से लेखन की शुरूआत करने वाले हंस के सम्पादक राजेंद्र यादव ने बड़ी बेबाकी से सामन्ती मूल्यों पर प्रहार किया और दलित व नारी विमर्श को हिन्दी साहित्य जगत् में चर्चा का मुख्य विषय बनाने का श्रेय भी उनके खाते में है।

निश्चितत: यह तत्व हंस पत्रिका में भी उभरकर सामने आता है। आज भी 'हंस' पत्रिका में छपना बड़े-बड़े साहित्यकारों की दिली तमन्ना रहती है। न जाने कितनी प्रतिभाओं को इस पत्रिका ने पहचाना, तराशा और सितारा बना दिया, तभी तो इसके संपादक राजेंद्र यादव को हिन्दी साहित्य का 'द ग्रेट शो मैन' कहा जाता है। निश्चितत: साहित्यिक क्षेत्र में हंस एवं इसके विलक्षण संपादक राजेंद्र यादव का योगदान अप्रतिम है।

निधन

राजेन्द्र यादव का नई दिल्ली में 28 अक्टूबर 2013 (मध्य रात्रि सोमवार) को निधन हो गया। वह 84 वर्ष के थे। राजेन्द्र यादव की अचानक तबियत खराब हो गई और उन्हें सांस लेने की तकलीफ होने लगी। उन्हें 11 बजे के बाद फौरन एक निजी अस्पताल ले जाया गया। लेकिन उन्होंने रास्ते में ही दम तोड़ दिया। राजेंद्र यादव हिन्दी साहित्य का एक मजबूत स्तंभ थे। राजेन्द्र यादव को हिन्दी साहित्य में 'नई

कहानी' के दौर को गढ़ने वालों में से एक माना जाता है। उन्होंने कमलेश्वर और मोहन राकेश के साथ नई कहानी आंदोलन की शुरुआत की।

सार

यह उस मध्यवर्गीय साधारण व्यक्ति की तस्वीर है जो अपनी अतृप्त लालसाओं और कुछ बनने की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण परिस्थितियों से टकराता है, किन्तु उनका चक्रव्यूह तोड़ नहीं पाता है। अपने आदर्शों एवं मूल्यों के साथ समझौता करके मजबूरन विवश – स्थिति को जीने के अलावा उसके पास कोई दूसरा रास्ता नहीं है। वस्तुत: उन्होंने जीवन के बाह्य स्वरूप के अवलोकन मात्र के आधार पर ही नहीं, अपितु उसकी गहराई में पैठ कर भोगे हुए यथार्थ अनुभव के आधार पर अपने उपन्यासों का सृजन किया है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में चित्रित पात्र एवं घटनायें जीवंत और हमारे आस – पास के प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यास मध्यवर्गीय व्यक्ति के दु:ख – दर्द, संघर्ष – पराजय, घुटन – कुण्ठा, विवशता – परवशता, आकांक्षा – आशंका पूर्ण जीवन के अंधकारमय वर्तमान तथा आशाहीन भविष्य के मूल कारण ों की खोज करते हुए तत्कालीन व्यवस्था की विसंगतियों तथा विडम्बनाओं को उद्घाटित करने के साथ – साथ उसके लिये जिम्मेदार शक्तियों के विरूद्ध खड़े होकर निरन्तर संघर्ष करने की भी प्रेरणा देते हैं।

3.6 राजेन्द्र यादव : कृतित्व

हिन्दी साहित्य संसार के प्रतिभासंपन्न तथा ख्यातकीर्त उपन्यासकार राजेंद्र यादव का साहित्यिक जीवन कैशोर्य काल में ही आरंभ हुआ। भिल्ली चाटवाले से सुनी अनेक कहानियाँ तथा पिताजी से सुने "चंद्रकांता संतति' उपन्यास के अनेक हिस्से राजेंद्र के कैशोर्य मन पर कथा–कहानियों के संस्कार गहरे कर गए। इसी संस्कारों की वजह से बचपन में ही राजेंद्र ने एक के बाद एक तीन उपन्यास लिखे। इसमें से एक देवगिरि को केंद्र बनाकर एक अंगठ उपन्यास को लिखने का प्रयत्न किया था।

राजेन्द्र यादव के साहित्यिक जीवन का आरम्भ किशोरावस्था काल में ही हुआ। किशोरावस्था काल में भिक्खी चाटवाले से उन्होंने अनेक कहानियां सुनी थी और पिताजी से 'चन्द्रकांता संतति' उपन्यास के किस्से सुने थे। कथा–कहानियों के संस्कारों का प्रभाव उन पर बचपन में ही पड़ा। इसी प्रभाव के फलस्वरूप बचपन में ही उन्होंने तीन सामाजिक उपन्यास लिखे किशोर भावुकता के उपन्यास। राजेन्द्र यादव के उपन्यास लेखन का यह अभ्यास था। इसी प्रकार आरम्भ में उन्होंने ब्रज भाषा में कविताएं भी लिखी।

किन्तु उन्हें अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं लगी। अपने अनुभवों को अभिव्यक्ति देने में कविता का क्षेत्र उन्हें सीमित लगा। बचपन से ही उपन्यास विधा उनकी प्रिय विधा हो गई। कहानियों की ओर उन्होंने बहुत बाद में रूख किया। 'प्रतिहिंसा' उनकी पहली कहानी है।

यह कहानी प्रयाग से प्रकाशित होने वाली 'कर्मयोगी, पत्रिका में मई 1947 में प्रकाशित हुई थी। एक ओर एम. ए. की पढ़ाई जारी थी तो दूसरी ओर इसी काल में 'प्रेत बोलते हैं' उपन्यास का लेखन भी जारी था। यही उपन्यास आगे 'सारा आकाश' नाम से प्रकाशित हुआ जिस पर बासु चटर्जी ने सन् 1972 में फिल्म बनाई। बाद में हंस, गुलदस्ता, अप्सरा आदि पत्र–पत्रिकाओं में छपने का सिलसिला शुरू हुआ। सन् 1950 से पहले एक कहानी संग्रह "रेखाएं, लहरें और परछाइयां भी छप गया था।

देवताओं की मूर्तियां" बीकानेर से छपा था जो उनका दूसरा कहानी संग्रह था। उस समय जोश भरे

वातावरण में उन्होंने खूब लिखा।

उन्हीं के शब्दों में "उस समय का खौलता हुआ वातावरण आज भी याद करने की चीज है जब हर दिन कुछ न कुछ लिखने की स्फूर्ति लगातार मन में बनी रहती थी। विभाजन और "यह आजादी झूठी है" का उर्दू वाला दौर भी हिन्दी को प्रभावित कर रहा था। इलाहाबाद, बनारस, आगरा, लखनऊ, बम्बई, दिल्ली सभी उद्वलेनों के केन्द्र थे।... सारी रात लालटेन के पास चिपका मैं कहानी लिखता रहता था।" एम. ए. की छमाही परीक्षा के दिन थे।

राजेंद्र यादव की पहली उल्लेखनीय रचना "खेल-खिलौने' है। यह कहानी अप्रतिहत प्रेरणावेग के कारण भाषाविज्ञान जैसे तांत्रिक एवं कठिण विषय की छमाही परीक्षा से चार-छह दिन पहले लिखी गई थी।

चार-छः दिनों के बाद भाषा विज्ञान जैसे कठिन विषय का पेपर था और राजेन्द्र यादव लालटेन की रोशनी में रातभर 'खेल खिलौने' कहानी खिलने में जुटे हुए थे। राजेन्द्र यादव का साहित्य-क्षेत्र में पर्दापण इनके कहानी संग्रह 'खेल खिलौने' से हुआ। 'खेल-खिलौने' कहानी संग्रह के प्रकाशन के साथ ही राजेन्द्र यादव का लेखक मुखरित हो उठा।

आरंभ में कविता करनेवाले राजेंद्र यादव को अपने अनुभवों को सशक्त अभिव्यक्ति देने में कविता का क्षेत्र सीमित लगा। अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास और कहानी का माध्यम उन्हें समर्थ तथा उचित लगा। राजेंद्र यादव को बचपन से ही उपन्यास विधा प्रिय थी। इसीलिए नानाजी को उनके ही दिये आदेशों के प्रति राजेंद्र सख्ती से पत्र लिखते है -

आप जितना भी कहिए, मैं कहानियाँ नहीं लिखेगा। जब कोई उपन्यास लिख सकता है, तो कहानी क्यों लिखे? बचपन में कहानी लिखने के प्रति विरोध रखनेवाले राजेंद्र यादव को आज उपन्यास के साथ कहानी विधा भी अत्यंत प्रिय है।

अपने कैशोर्य काल में ही राजेंद्र ने अपनी पहली कहानी 'प्रतिहिंसा' लिखी। जो प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली 'कर्मयोगी' पत्रिका में मई, १९४७ में प्रकाशित हुई।

राजेंद्र यादव का पहला उपन्यास प्रेत बोलते है जो बादमें सारा आकाश के नाम से सन १९५२ में प्रकाशित हुआ। जिस पर १९७२ में बासु चटर्जी ने फिल्म बनाई। बचपन से राजेंद्र यादव हिन्दी साहित्य के प्रति रूचि रखते थे। उपन्यास और कहानियाँ पढना तो उनका शौक रहा। उनका तो कहना है -

....दूसरों की बाते-रचनाएँ-पुस्तके पढना मेरे लिए सबसे अधिक प्रेरणास्पद क्षण है।

उपाधि से जुड़ी पढ़ाई एम.ए. के बाद समाप्त हुई किंतु उपाधिनिरपेक्ष पढाई जारी ही रही। इसी पढाई का प्रभाव उनकी बातचीत में प्रकट होता ही रहता है। राजेंद्र बातचीत के दौरान कितने ही उद्धरण प्रयुक्त कर देते हैं। मोहन राकेश को तो उनसे शिकायत है कि वह

तीन-चौथाई बात कोटेशंस में करता हैं।

हिन्दी के साहित्यकारों में राजेंद्र यादव का-सा विस्तृत अध्ययन इने-गिने साहित्यकारों का ही होगा उनकी अध्ययनशीलता का प्रभाव साहित्यिक रचनाओं में भी विभिन्न रूपों में दिखाई देता हैं।

साहित्यिक सृजन राजेंद्र यादव के जीवन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। इस विषय को स्पष्ट करते हुऐ मोहन राकेश ने लिखा हैं -

"जिंदगी में सिर्फ एक तलाश एक कशिश-कहानी। वह जहाँ भी मिले, जिससे भी मिले, जैसे भी मिले हर मिलनेवाला आदमी - कहानी का संभावित पात्रा जिंदगी का हर हुस्न और फरेब-कहानी की एक

नोट्स

स्थिति अपने ऊपर ओढी हुई हर तकलीफ लिखने की जरूरत। एकांत का एक-एक क्षण (!) – लिखने या सोचने का समय। इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है –

मुसीबत हैं ऐसी जिंदगी, जिसमें इंसान .....कभी भी, किसी भी क्षण केवल जीने के लिए न जिए, हर वक्त किसी न किसी प्रेत छाया का मीडियम बनकर उसकी बात सोचता हुआ रहे, उस कहानी के साथ एक कहानी हुआ रहे और जब तक एक प्रेतछाया सिर से उतरे, तब तक दो और प्रेतछायाओं को सिर पर बुला ले।

राजेंद्र यादव को मन्नू के रूप में एक पूर्ण समर्पित पत्नी प्राप्त हुई थी। अध्यापिका होने के साथ-साथ परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उठाने में मन्नू समर्थ थी। मन्नू की इसी सक्षमता की वजह से, राजेंद्र यादव अपनी पारिवारीक चिंताओं से मुक्त रहकर स्वतंत्र रूप से लेखन कर सके। अपनी पत्नी मन्नू का सहयोग, समर्पण तथा प्रेरणा पाकर ही राजेंद्र हिन्दी साहित्य संसार में अपनी अमिट छाप छोड़ सके हैं। इस बात को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता। जीवन की हर अनुभूती राजेंद्र को लेखन की सामग्री प्रदान करती रही और राजेंद्र लिखते रहे। अत: उपेंद्रनाथ अश्क को वे ।

जिंदगी में कहानियाँ ढूँढते फिरते नजर आते हैं। राजेंद्र यादव ने अपनी साहित्यिक यात्रा में न कभी अर्थ और राजनीति से हाथ मिलाया न ही बाजारू माँग के अनुसार उपन्यास या कहानियों को लिखा। उनका ऊसूल हैं साहित्य के प्रति प्रतिबद्धता।

चौखब ने लेखन के संबंध में कहा है –

श्साहित्य एक ऐसी वैध पत्नी है, जो आपसे ईमानदारी की मांग करती हैं। .१ राजेंद्र भी अपने साहित्य के प्रति इमानदार है। अपना लेखन उन्हें प्रिय हैं। उन्हें अपने लेखन पर अभिमान भी हैं।

एक छोटा-सा अहंकार हर कलाकार में होता हैं.

लेकिन राजेंद्र का साहित्यिक अभिमान कभी दंभ बनकर उनके लेखकीय व्यक्तित्व के विकास में बाधक नहीं बन सका। अपने साहित्य के प्रति प्रतिबद्ध रहनेवाले इस साहित्यकार के द्वारा दूसरे लेखकों का अनुकरण तो दूर रहा इन्होंने तो स्वयं अपना भी अनुकरण नहीं किया।

साहित्यकार को अपने साहित्य के प्रति इमानदार रहना चाहिए। साहित्य के प्रति किया कोई भी समझौता उसे इमानदार नहीं रहने देता। इसीलिए साहित्यकार को स्वतंत्र होना चाहीए, और साथ ही साथ आत्मनिर्भर भी। लेखन से अलग ऐसी कोई भी महत्वकांक्षा न पाली जाये जो या तो लेखन के साथ सौदा करने के लिए मजबूर करे या फिर चालाकी और झूठ की जिंदगी में धकेल दें। राजेंद्र यादव अपने बारे में लिखते हैं –

लेखन के प्रति विशेष संम्मान, लिहाज या सावधानी, दया कहीं भी व्यवहार को स्वाभाविक नहीं रहने देगी। आप लेखक है और जरूर रहेंगे मगर हमेशा ऐसा दिखायी देते रहना क्यों जरूरी हो ? लेखक आप सिर्फ अपनी मेजपर या अकेले कमरे में होगे बाकी समय एक साधारण आदमी हैं - लोगो में घुलता-मिलता, हँसता-चोलता।

राजेंद्र यादव जिस विषय पर लिखते उसपर पहले बहुत सोचते विचार करते। एक बार पूरा लिख लेने के पश्चात वे उसे पुन्हा: एक आलोचक की दृष्टि से पढते है, संशोधन-परिवर्द्धन करते, और तब उसे अंतिम बार फिर से पूरा लिखते। परिणाम स्वरूप उनकी कहानियां और उपन्यास सुगठित होते हैं।

अपनी साहित्यिक गति तथा रूचि को सीमाओं में कैद रखने में राजेंद्र यादव असमर्थ रहे। इसीलिए वे उपन्यास विधा की सीमा में बंधकर न रह सके। इसी वजह से उपन्यास के साथ-साथ वे कहानी, और

डायरी लेखन भी करते रहे। राजेंद्र यादव ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर यथार्थ जीवन के अनुभवों की अभिव्यक्ति पर बल दिया है। वे मानते हैं, आदर्श या किसी बाहरी अंकुश की झोंक में मानव हृदय की सच्ची भावनाओं, अभूतियों और उनकी संभावनाओं को जानबूझकर भुला देने को वे बेईमानी मानते हैं।

राजेंद्र यादव का लेखन साहित्य मध्यवर्ग से लेकर ही लिखा गया है। उनके साहित्य में व्यक्ति प्रधान है। जिन सामाजिक समस्याओं का चित्रण उनमें किया गया है वह मध्यवर्गीय लेखक के अनुभव के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। अपने निजी अनुभवों पर उनका अत्यन्त बल रहा हैं।

प्रमुख कृतियाँ

उपन्यास	कहानी संग्रह	आलोचना
सारा आकाश	देवताओं की मूर्तियां	कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति
उखड़े हुए लोग	खेल खिलौने	कांटे की बात - बारह खंड
शह और मात	जहां लक्ष्मी कैद है	प्रेमचंद की विरासत
एक इंच मुस्कान	छोटे-छोटे ताजमहल	अठारह उपन्यास
कुलटा	किनारे से किनारे तक	औरों के बहाने
अनदेखे अनजाने पुल	टूटना ढोल और अपने पार	आदमी की निगाह में औरत
मंत्र विद्ध	वहां पहुंचने की दौड़	वे देवता नहीं हैं
स्वरूप और संवेदना	आवाज तेरी है	मुड़-मुड़के देखता हूं
एक था शैलेन्द्र		अब वे वहां नहीं रहते
		काश, मैं राष्ट्रद्रोही होता

3.7 लेखन का प्रारम्भ तथा प्रेरणा

राजेन्द्र यादव के जीवन में साहित्यिक प्रेरणा के अंकुरण तभी फूटने लगे थे जब वे 'भिक्खी चाटवाले से तरह-तरह की कहानियां सुना करते थे। सन् 1946 में राजेन्द्र यादव झाँसी से आगरा वापस आ गए। भारत-पाक विभाजन के समय हुए साम्प्रदायिक दंगों ने इनके लेखन हृदय को अत्यधिक प्रभावित किया जिसका परिणाम थी

उनकी प्रथम कहानी-'प्रतिहिंसा'। 'सुधा माधुरी' नामक पत्रिका जो झाँसी से प्रकाशित होती थी, ने इनके साहित्यिक उत्साह को बढ़ाया। झाँसी में यादव के पड़ोसी सुधीन्द्र वर्मा की साहित्य में विशेष रूचि थी। उनकी इस रूचि का प्रभाव यादव पर अवश्य ही रहा होगा। झाँसी से ही उन दिनों 'जागरण' नामक पत्र निकलता था जिसके सम्पादक श्री श्याम प्रसाद दीक्षित थे। राजेन्द्र यादव जब श्री दीक्षित के सम्पर्क में आए तो उनका परिचय बंगला कथाकार शरतचन्द्र से हुआ और उन्हीं की प्रेरणास्वरूप यादव, शरतचन्द्र के उपन्यासों की ओर आकृष्ट हुए। 'जागरण' पत्र में उनके लेख व कविताएं प्रकाशित होती रहती थी। इनका यह प्रारम्भिक प्रयास था लेकिन इसी प्रयास से आगे बढ़ते हुए उनमें आत्म-विश्वास पैदा

नोट्स

हुआ। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव के नानाजी उन्हें पत्र द्वारा उकसाते थे कि वे वीर सावरकर की रचनाएं और 'बंदी जीवन' पढ़े।

लम्बे-लम्बे पत्रों द्वारा नानाजी राजेन्द्र यादव को कहानियां लिखने का आदेश देते थे। परन्तु कहानी की अपेक्षा उपन्यास लेखन में अधिक रूचि होने के कारण राजेन्द्र यादव नानाजी को सख्ती से पत्र लिखते-"आप जितना भी कहिए मैं कहानियां नहीं लिखूँगा। जब कोई उपन्यास लिख सकता है, तो कहानी क्यों लिखे?" तब शायद अपने अनुभवों को मूर्त रूप देने में कहानी विधा उन्हें सीमित लगी होगी। परन्तु आज हम देखते है। कि उपन्यास के साथ ही कहानी विधा उनके लिए अत्यन्त प्रिय है। इनके अलावा उनकी माँ तीसरे दर्जे तक पढ़ी थी पर पढ़ने की लगन उनमें बहुत थी। घर में पढ़ने के लिए हिन्दी, मराठी की पत्रिकाएं मंगाती। राजेन्द्र यादव को कोई पुस्तक पढ़ने के लिए देती और उनसे उस पुस्तक की समीक्षा लिखवाती। उनकी लेखकीय व्यक्तित्व के निर्माण में उनके माता-पिता का प्रदेय महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी कथा जगत् में राजेन्द्र यादव का स्थान अग्रगण्य है। उनका कहानी साहित्य उन्हें हिन्दी साहित्यकारों की श्रेणी में विशेष स्थान प्रदान करता है। कहानी व उपन्यास साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने मन्नू भण्डारी के साथ "एक इंच मुस्कान" नामक उपन्यास लिखा है। कविता संकलन, संपादन कार्य, संस्मरण आलोचना कृतियों के माध्यम से उन्होंने हिन्दी साहित्य जगत् को एक अनुपम देन प्रदान की है।

3.8 बहुमुखी प्रतिभा

राजेन्द्र यादव बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। उनकी प्रतिभा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उन्होंने कहानी और उपन्यास क्षेत्र में ही अपना योगदान प्रदान नहीं किया है बल्कि उन्होंने सम्पादन कार्य, प्रकाशनकार्य, आलोचनाए, अनुवादक, संस्मरण और पत्र और डायरी लेखन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है उनकी प्रतिभा के विविध क्षेत्रों का परिचय इस प्रकार है

3.9 साहित्य की समीक्षा

राजेन्द्र यादव ने संक्षिप्त तथा पुस्तककार समीक्षाएं भी की हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं की भूमिका में पाठकों से सीधे रूप में बातें करने का प्रयत्न किया है। 'कथायात्रा' और 'एक दुनिया समानांतर' की भूमिकाए काफी विस्तृत हैं। इनके अतिरिक्त 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' तथा 'अठारह उपन्यास' नाम की समीक्षा पुस्तकें स्वतंत्र रूप से लिखी हैं। 'औरों के बहाने' संस्मरणों की पुस्तक है। इन संस्मरणों में व्यावहारिक आलोचना के अनेक अंश हैं।

राजेन्द्र यादव का अधिकांश समीक्षा लेखन कहानी के संबंध में है। इसके अलावा प्रेमचंद की विरासत, कांटे की बात (बारह खण्ड) सन् 1968, कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति, उपन्यास स्वरूप और संवेदना 1998, आदमी की निगाह में औरत, 2001, वे देवता नहीं है 2001 और मुड़-मुड़ के देखता हूँ (आत्मकथ्य) 2002 अब वे वहां नहीं रहते, 2007, काश मैं राष्ट्रद्रोही होता-2008, जवाब दो विक्रमादित्य साक्षात्कार 2007 आदि की समीक्षा उन्होंने की है।

नोट्स

3.10 सम्पादक व अनुवादक

राजेन्द्र यादव ने अपने समकालीन तथा नव लेखकों को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से अगस्त 1986 से 'हंस' मासिक का सम्पादन कार्य आरम्भ किया। 'हंस' मासिक आरम्भ में सन् 1930 को प्रेमचन्द ने किया था, किन्तु बाद में यह बंद पड़ गया था। राजेन्द्र यादव ने इसे नए सिरे से शुरू किया। स्वयं राजेन्द्र यादव के शब्दों में "सन् 1930-36 के हंस की प्रतिलिपिया हम पुनर्प्रस्तुत करने नहीं जा रहे हैं। वह 'हंस' अपने समय से जुड़ा था और यह 'हंस' अपने समय और मुहावरे से जुड़ सके, यही हमारा प्रयास है।" राजेन्द्र यादव ने 'हँस' के सम्पादन को व्यावसायिक आयोजन नहीं माना। आज के इस मासिक में हिन्दी के अधिकतर नवलेखन एवं लेखिकाओं का कथा-साहित्य ही स्थान पाता है और अपने युग की जनचेतना का प्रतिनिधित्व करता है। राजेन्द्र यादव का अनुवाद कार्य भी व्यापक है। उनके अनुवाद कार्य निम्नलिखित है

(क) उपन्यास :

1. अजनबी-मूल लेखक कामू
2. हमारे युग का एक नायक-मूल लेखक लर्मन्तोव
3. एक मछुआ : एक मोती-मूल लेखक स्टाइन बैक
4. बसंत प्लावन-मूल लेखक तुर्गनेव
5. प्रथम प्रेम-मूल लेखक तुर्गनेव
6. टक्कर-मूल लेखक चौखव
7. संत सर्गीयस-मूल लेखक टालस्टॉय

(ख) नाटक :

1. हँसनी-मूल लेखक चौखव
2. चेरी का बगीचा-मूल लेखक चौखव
3. तीन बहनें-मूल लेखक चौखव

इसके अतिरिक्त राजेन्द्र यादव का कविता संकलन 'आवाज तेरी है' (सन् 1960) नाम से प्रकाशित है।

3.11 राजेन्द्र यादव की रचना-दृष्टि तथा चिन्तन पर युग का प्रभाव

भारतीय इतिहास की एक महान घटना है 'स्वतंत्रता की प्राप्ति' जिसने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में नया मोड़ ला दिया है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक क्षेत्रों में भी नई दिशा का उजागर किया है। साथ-साथ नई जीवन समस्याओं को जन्म दिया है। स्वतंत्र भारत के पास एक ओर सपने, आशाएं और आकांक्षाएं रही हैं तो दूसरी ओर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों की समस्याएं रही हैं। एक ओर राष्ट्र एवं समाज सेवा को सुधारने का संकल्प रहा है तो दूसरी ओर वैयक्तिकता तथा भोगवादिता का आकर्षण भी।

नोट्स

फलस्वरूप स्वातंत्रयोत्तर परिवेश गठन और विघटन, नैतिक और अनैतिक के संघर्ष से युक्त है। आजादी के बाद भारतीय संविधान लागू होने पर देशवासी भविष्य के प्रति आशान्वित कि उन्हें अपने व्यक्तित्व विकास तथा समृद्ध जीवनयापन का सुअवसर प्राप्त होगा। भारतीयों के जीवन को सुखी, सुरक्षित एवं समृद्ध बनाने के लिए अनेक प्रयास किए जाने लगे। पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। जमींदारी उन्मूलन, अस्पृश्यता अधिनियम बनाकर देशवासियों के उत्थान के लिए शैक्षिक सुविधा स्वास्थ्य विषयक सुविधा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। परन्तु इन प्रयासों के साथ-साथ कुछ गतिरोध भी आए, जिससे विकास के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न हुई। नेता लोग देश-सेवा, देश उन्नति के बदले चुनाव जीत लेने में अधिक रूचि लेने लगे। राजनीतिक स्तर पर हुए नैतिकता के ह्रास ने भ्रष्टाचार, शोषण, स्वार्थ जैसी प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

आजादी के पश्चात् का भारतीय समाज पूर्ववर्ती समाज से अलग है। शिक्षा का प्रसार, सुधारवादी आंदोलन, पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क, औद्योगिक क्रांति, वैज्ञानिक प्रगति आदि के कारण एक नया समाज सामने आया। नारी के लिए नए रूप का जन्म हुआ। उसमें आत्मगौरव, स्वाभिमान, आकांक्षा अधिकार जैसे भावों का विकास होने लगा। भारतीय सामाजिक जीवन के आर्थिक परिवेश में काफी परिवर्तन आया। अर्थ जीवन मूल्य बन गया। जिस कारण चारों ओर नैतिकता का ह्रास होकर अनैतिकता, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और बेईमानी की मनोवृत्तियां फैलती गई। राजेन्द्र यादव हिन्दी कथा-साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। वे स्वातन्त्रयोत्तर काल के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। "राजेन्द्र यादव साठोत्तरी भारत की सही तस्वीर प्रस्तुत करने वाले ऐसे रचनाधर्मी हैं, जिनमें आजादी के बाद आए बदलाव की सही तस्वीर तो है ही, उसके साथ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के विरूद्ध आक्रोश है ऐसा आक्रोश जिसमें कुण्ठा के स्थान पर संघर्ष चेतना है, संघर्षशीलता एवं क्रान्तिकारिता है।

इसलिए राजेन्द्र यादव शहरी मध्यवर्ग से लेकर ग्राम जीवन स्थितिथियों के परखी रचनाकार हैं।" राजेन्द्र यादव की कथा-साहित्य में अधिकतर महानगरीय जीवन का चित्रण हैं। महानगरीय संवेदनाएं उनकी कहानियों और उपन्यासों में अपने यथार्थ रूप में उभर कर आयी हैं। मूल्यों की टूटन महानगरों और नगरों में अधिक दिखाई देती है। स्वंतत्रता प्राप्ति के पश्चात् संबंधों में बदलाव आया है। मूल्य टूटे हैं दृष्टिकोण बदले हैं, बौद्धिकता ने अनेक विश्वासों को तोड़ा है और जीवन पद्धति में भी उल्लेखनीय अन्तर आया है। नगर बोध के अंतर्गत आधुनिकता, परम्परा से मुक्ति के लिए प्रयत्न, कृत्रिम जीवन प्रणाली, काला बाजारी, अनैतिकता, सम्बन्धों में परिवर्तन, प्राचीन और नवीनता के मध्य संघर्ष, ऊब, अकेलापन, अविश्वास, क्षणबोध, स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का टूटना आदि संवेदनाएं प्रमुख हैं।

राजेन्द्र यादव के कथा-साहित्य में महानगरीय बोध की इन सभी स्थितियों को देखा जा सकता है। उनकी 'टूटना', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'जहा लक्ष्मी कैद है', 'शहर की यह रात और..., तथा अन्य अनेक कहानियों में और उनके उपन्यासों में भी महानगरीय बोध की झांकिया देखी जा सकती हैं। राजेन्द्र यादव के कथा-साहित्य में अधिकांशतः महानगरीय जीवन व निम्न मध्यवर्गीय जीवन व्यक्तित्व हनन की स्थिति है।

इस प्रकार राजेन्द्र यादव का रचना संसार अपने परिवेश की उपज है। इनके पात्र हमारे यथार्थ जीवन के लिए हुए हैं तथा आज के यथार्थ को झेलने एवं भोगने वाले हैं। 'उनकी बेबाक टिप्पणियों ने जहा

कथा समीक्षा को धार दी, वहीं उपेक्षितों एवं शोषिता के प्रति यथार्थ से जुड़ी सच्ची संवेदना ने स्वतन्त्रता के बाद की जिजीविषा को वाणी दी है।

राजेन्द्र यादव समान्तर कहानी के ऐसे रचनाकार हैं जो साठोत्तरी कहानी को वायवी कल्पना से हटाकर ठोस जमीन को तलाशती है जहा सामाजिक बदलाव के प्रति ललक और प्रेरणा विद्यमान है। उन्होंने साठोत्तरी राजनीतिक, सामाजिक परिवेश को केन्द्र में रखकर आज के व्यक्ति और समाज को प्रस्तुत किया है। इसमें दलित, शोषित वर्ग और नारी को प्रमुखता मिली है। "आजादी के बाद जो टूटन आयी है उसका केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है। वैयक्तिक स्वातंत्र्य की कामना ने सामाजिक बन्धनों को जितना अधिक उन्मुक्त किया है उतना ही वह एकांकी होता गया। व्यक्ति चाहे सुविधाजीवी या सम्पन्न हो, चाहे दलित और शोषित उसका जीवन एकाकीपन के कारण असहाय और अजनबी हो गया है। मिथ्या अंहबोध के कारण इस टूटे बिखरे व्यक्ति की पहचान राजेन्द्र यादव कराते हैं। इस व्यक्ति चरित्र में नगरीय एवं ग्राम्य दोनों समाजों के व्यक्ति है किन्तु उनकी संख्या अधिक है जो गाँवों से पलायन करके महानगरों में गुम हो चुके हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि राजेन्द्र यादव ने सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक स्थितियों को केन्द्र में रखकर अपने साहित्य का सृजन किया है।"

3.12 राजेंद्र यादव के उपन्यास

सारा आकाश

राजेंद्र यादव का पहला उपन्यास हैं, "सारा आकाशश। जो सन् १९५१ में "प्रेत बोलते हैं' इस नाम से प्रकाशित हो चुका था। पर सन् १९६० में लेखक ने उसे कुछ परिवर्तनों के साथ "सारा आकाश' के नाम से प्रकाशित किया। दो भगों में विभाजित इस उपन्यास का पूर्वार्ध एक साँझ बनकर आया हैं, और यह साँझ पाठको के सामने अपनी दरों दिशाओं के संग निरूत्तरता के साथ प्रस्तुत हो जाती है। उपन्यास के उत्तरार्ध की सुबह अपनी दस दिशाओं की पीड़ा लेकर पाठकों के सामने खडी हो जाती हैं।

'सारा आकाश' संयुक्त परिवार की दोगली व्यवहार भूमिका पर एक सशक्त तमाचा हैं। संयुक्त परिवार इस भारतीय आदर्शवादीता में छिपी कुण्ठा, पीडा, अभाव तथा दोगली व्यवहार वृत्ती को राजेंद्र यादव ने जिस सफलता और विश्वास के साथ चौराहे पे पटक दिया हैं। वह प्रशंसनीय हैं। सारा आकाश के प्रधान पात्र समर तथा उसकी पत्नी प्रभा है। जो संयुक्त परिवार की नाजायज, असहनिय हरकतों से पीडित हैं। पति-पत्नी के बीच की संवादहीनता की समस्या को प्रकट करने तक ही 'सारा आकाश' सीमित नहीं है, बल्कि इसका प्रधान लक्ष्य है संयुक्त परिवार की बुराइयों को उकेरना। पैसों के अभाव में घुटती जिंदगी का चित्र खींचना मध्यवर्ग की प्रश्न-पीडित जिंदगी को प्रकट करना।

'सारा आकाश' का उद्देश्य उन तमाम बेटे-बेटियों की ट्रेजेडी को प्रकट करना हैं, जो अपने जीवन साथी के चुनाव के अधिकार से वंचित हैं और घुटन भरी स्थिति में सांस खींचने को विवश हैं।

उखड़े हुए लोग

सन १९५६ में प्रकाशित हुआ 'उखड़े हुए लोग' राजेंद्र यादव का दूसरा बहुचर्चित उपन्यास हैं। इस उपन्यास के कथानक की पृष्ठभूमि भारत के प्रथम चुनाव के पहले की हैं। परम्पराओं और रूढिओं के

नोट्स

कठोर पाशों को तोड़ने के लिए निकले शरद और जया की यह कहानी हैं, किन्तु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से शरद और जया टूट गये हैं।

प्रस्तुत उपन्यास आजादी के बाद हुऐ राजनीति पतन तथा शोषण की ओर संकेत करता हैं। अपने आपको गांधीजी का अनुयायी समझमेवाले देशबन्धु जब कहते हैं,

मजदूर पांच ही क्यों मरे ? पांच हजार क्यों नहीं मरे?

तब उनके एक हाथ में गांधीवाद की ढाल और दूसरी हाथ में तलवार दिखाई देती हैं जिससे वे अन्याय के विरोध में उठा हुआ हर मजदूर का हाथ काट सके। यह उपन्यास 'उच्चवर्ग द्वारा किये जानेवाले निम्न तथा मध्य वर्ग के शोषण पर तीखा व्यंग्य करता हैं और उन तथाकथित देश सेवकों तथा जनप्रतिनिधियों का भंडा फोड़ करता है, जो देश सेवा के नाम पर अपनी नीच से नीच आकांक्षाओं की पूर्ति में जुट गये है। वर्तमान राजनीति, समाज एवं अर्थव्यवस्था में मध्यवर्गीय लोग उखड़े हुए हैं इसी बात को स्पष्ट करना उपन्यास का उद्देश्य है।

शरद-जया, प्रो.कपिल, कवि चम्पक, केशव आदि सब उखड़े हुऐ लोग हैं।

कुलटा

कुलटा राजेंद्र यादव का तीसरा उपन्यास हैं। जो सन् १९५७ में प्रकाशित हुआ। स्वभाव एवं चरित्रगत अनमेल के कारण उच्चवर्गीय दम्पति जीवन में उत्पन्न संघर्ष की पराकाष्ठा का मार्मिक चित्रण याने "कुलटाश। उपन्यास के मिसेज तेजपाल और मेजर तेजपाल प्रमुख पात्र हैं। जब अत्यंत सुन्दर, चपल, स्वभाव से कोमल, स्वच्छंदी और विभिन्न शौक संपन्न आधुनिक नारी मिसेज तेजपाल, मेजर तेजपाल जैसे स्वभाव से कठोर बूंखार एवं रूक्ष, तथा माननीय संवेदनाओं से रहित पूरूप की कैद के खिलाफ़ विद्रोह कर उठती हैं. और अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं तब सारा समाज उसे "कुलटा' यह नीच उपाधि प्रदान करता है।

जीवन जीने की अदम्य शक्ति, अकांक्षा और अस्तित्व का बोध रखनेवाली मिसेज तेजपाल ने प्राचीन रूढियों, परम्पराओं तथा संस्कारों को तोड़ा ही नहीं बल्कि इन सभी को नपुंसक सिद्ध कर दिया है। मिसेज तेजपाल अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए पति का साथ छोड़ देती हैं और वायलिनिस्ट के साथ, रहना स्वीकार करती है लेखक कहता हैं

हमारी नैतिक, सामाजिक जड़ परम्पराओं, रूढियों तथा जीवन की अप्रतिरोध्य उद्दाम शक्ति के संघर्ष और द्वंद्व की कहानी अपनी समझ में मैने कुलटा में कही हैं।

शह और मात

राजेंद्र यादव का चौथा उपन्यास है 'शह और मातष इसका प्रकाशन सन् १९५९ में हुआ हैं। उपन्यास के प्रमुख दो पात्र उदय और सुजाता हैं, जिसके माध्यम से लेखक की मानसिक उलझन का चित्रण कर लेखकीय व्यक्तित्व की समस्याओं को प्रस्तुत किया है।

अपने लेखन के प्रति इमानदार रहने के कारण लेखक उदय को जिन मानसिक व्यथाओंको भुगताना पड़ा हैं। उन्हीं व्यथाओं का चित्रण करना "शह और मात' का प्रमुख लक्ष्य हैं। लेखक उदय और व्यक्ति उदय इन दो भागों में उदय का व्यक्तित्व खंडित हैं। सुजाता के साथ चली चाल में लेखक उदय विजयी हुआ हैं फिरभी वह आत्म-ग्लानि से पीड़ित हैं। क्यों लेखक उदय को सुरक्षित रखने के लिए उसे सुजाता

के साथ आये जीवन के कोमल भावुक क्षणों में, प्रेम-प्रसंगों में तटस्थ, भावनाशून्य, निर्दय और क्रूर होना पड़ा हैं। उसमें निहित व्यक्ति उदय जीवन के आनंद से वंचित रहता है। यह बात उदय को पराजित कर देती हैं। लेखक और व्यक्ति के द्वन्द्व में उलझे उदय की मानसिक व्यथाओं को व्यक्त करना ही उपन्यास का प्रधान उद्देश्य हैं।

एक इंच मुस्कान

'एक इंच मुस्कान' राजेंद्र यादव का मन्नू भण्डारी के सहयोग से लिखा उपन्यास है। जिसके पुरूष पात्र राजेंद्र यादव ने तथा स्त्री पात्र मन्नू भण्डारी ने लिखे हैं। एक इंच मुस्कान उपन्यास में मध्यवर्गीय लेखक की ट्रेजेडी, पराजय और खण्डित व्यक्तित्व का चित्रण हुआ है। न चाहने पर भी उपन्यास के नायक अमर को अपनी प्रेमिका रंजना के साथ विवाह करना पडता है। दोनों तनावास्थ अवस्था में एक साथ रहने को विवश हो जाते है। अपने सुख में अमला को हिस्सेदार पाकर रंजमा अमर को त्याग देती हैं और दूसरा विवाह करती है। अपने लेखकीय व्यक्तित्व को बनाये रखने के प्रयास में अमर अपना पतित्व खो बैठता है। अगर लेखक परिवार और उसकी जिम्मेदारियों में बंधा रह जाऐगा तो वह न परिवार के प्रति एकनिष्ठ रह पायेगा और न ही अपने लेखन के प्रति। यही बात अमर के द्वार स्पष्ट हो जाती है।

अमर की कहानी से उसके "लेखकीय व्यक्तित्व को छटपटाहट और ट्रेजेडी को समग्ररूप से स्पष्ट करनाही उपन्यास का प्रमुख लक्ष्य है।

अनदेखे अनजान पुल

अनदेखे अनजान पुल' राजेंद्र यादव का छठा उपन्यास हैं। जो सन् १९६३ ई.में प्रकाशित हुआ। कुरूपता की ग्रन्थि से जकड़ी मध्यवर्गीय परिवार की लडकी 'निन्नी' इस उपन्यास का प्रधान पात्र है। इसी कुरूपता की वजह से वह अपने स्त्री जीवन की अत्यंत कोमल भावना प्रेम तथा सुख के प्रत्येक आनंद से वंचित रह जाती है। और हर क्षण स्वयं को अपमानित महसूस करती है।

कुरूपता की गन्थि की समस्या तथा सौंदर्य के स्वरूप को स्पष्ट करना ही उपन्यास का प्रतिपाध्य है।

अपनी कुरूपता निन्नी को हर पल कचौटती रहती है, और हर बार वह कुरूपता की वजह से स्वयं को शापित पाती है। कुरूपता की वजह से उत्पन्न आंतरिक द्वंद्व, मानसिक पीड़ा निन्नी को मृत्यू की पलंग पर लीटा देती हैं। ऐसी मरणासन्न अवस्था में दर्शन से प्राप्त हुआ एक आत्मीयता का चुंबन उसकी हीनता की ग्रन्थि की बीमारी पर असरदार दवा साबित होता है। जिसके सहारे निन्नी अपना सेतु खुद बनती है और हीनता की ग्रन्थि के गडढ़े को पार कर जाती है।

निन्नी उन सभी लडकियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो अपने व्यक्तित्व के किसी भी एक अंग के अभाव में जीवन का सारा आनंद खो बैठती हैं। किसी न किसी अभाव में जीते हुऐ जीवन में उठने का प्रयत्न ही इस कहानी का मूल कथ्य है।

मंत्रविद्ध

राजेंद्र यादव का सातवाँ उपन्यास हैं 'मंत्रविद्ध' जिसका प्रकाशन सन् १९६७ ई.में हुआ। जिसके तारक दत्त और सुरजीत कौर प्रधान पात्र हैं।

नोट्स

अपनी मर्यादा, ताकद और अभावों को नजरअंदाज कर प्रेम जैसी सुखद पर गहरी और पवित्र भावना में खोने का असफल प्रयास तारक और सुरजीत को असफल प्रेम कहानी हैं। जिसका असफल संघर्ष "मंत्रविद्ध' उपन्यास के हर पन्ने पर उत्पन्न हुआ है। एक गैरजिम्मेदार, डरपोक, शंकालू पुरूष के प्रति प्रेम होने और विवाह करने से हर युवती की प्रेम कहानी एक मजाक बन जाएगी। और ऐसी कहानी से हर समय तारक जैसे पुरूषों की वजह से सुरजीत जैसी सुंदर, स्वाभिमानी और जिम्मेदार युवतियों की बलि चढ़ाई जायेगी।

मंत्रविद्ध उपन्यास इन्हीं बातों को लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है।

3.13 राजेंद्र यादव की प्रकाशित रचनाएँ।

उपन्यास

१) प्रेत बोलते है -	रचना काल - १९५१
(सारा आकाश का मूल रूप)	प्रयुक्त संस्करण - १९५२
२) उखडे हुऐ लोग	प्रथम संस्करण - १९५६
	प्रयुक्त संस्करण १९७५
३) कुलटा	प्रथम संस्करण .१९५७
	प्रयुक्त संस्करण १९६९
४) शह और मात	प्रथम संस्करण १९५९
५) अनदेखे अमजान पुल	प्रथम संस्करण १९६३
	प्रयुक्त संस्करण १९५९
६) मंत्रविद्ध	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९६७
७) एक इंच मुस्कान	प्रथम ज्ञानोदय में सन् १९६१

कहानी संग्रह

(१) देवताओं की मूर्तियाँ	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९५२
(२) खेल-खिलौने	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९५४
(३) जहाँ लक्ष्मी कैद है	प्रथम संस्करण १९५७
	प्रयुक्त संस्करण १९६०
(४) छोटे-छोटे ताजमहाल	राजपाल ॲन्ड सन का प्रकाशन १९६१
(५) किनारे से किनारे तक	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९६३
(६) टूटना	अक्षर प्रकाशन का संस्करण १९७७
(७) अपने पार	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९६८

नोट्स

(८) मेरी प्रिय कहानियाँ	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९७१
(९) ढोल	प्रथम एवं प्रयुक्त संस्करण १९७२
(१०) घर की तलाश	किशोरों के लिए लिखित कहानियाँ १९८०
(११) पर नहीं मरती	किशोरो के लिए लिखित १९७८

कविता संकलन

(१) आवाज तेरी हैं	प्रथम संस्करण, सन १९६०

समीक्षा

(१) कहानी : स्वरूप और संवेदना	प्रथम संस्करण सन् १९६०
(२) १८ उपन्यास	प्रथम संस्करण, सन् १९८१

व्यक्ति चित्र

(१) औरों के बहाने	प्रथम संस्करण सन् १९८०

अनुवाद कार्य

(क) उपन्यास :

(१) अजनबी	मूल लेखक कामू
(२) हमारे युग का एक नायक ।	मूल लेखक लर्मतोव
(३) एक महुआ : एक मोती	मूल लेखक स्टाइन बैक
(४) वर्सत प्लावन	मूल लेखक तुनिव
(५) प्रथम प्रेम	मूल लेखक तुर्गनेव
(६) टक्कर	मूल लेखक चौखव

(ख) नाटक :

(१) हंसनी	मूल लेखक चौखव
(२) चेरी की बगीचा	मूल लेखक चौखव
(३) तीन बहनें	मूल लेखक चौखव

प्रकाशन कार्य

राजेंद्र यादव सिर्फ साहित्य सृजन की सीमा में नहीं बंधे रहे बल्कि इन सीमाओं को पार कर साहित्य प्रकाशन का महत्वपूर्ण कार्य भी करते रहे। लेखकों का शोषण और उनके आत्मसन्मान को कुचल देनेवाले वर्तमान प्रकाशकों को लगाम देने और लेखको को न्याय तथा उनके आत्मसन्मान को बनाए रखने की प्रेरण ा से ही राजेंद्र प्रकाशन कार्य में लगे रहें। दिल्ली में स्थायी होते ही सन् १९६५ ई.से लेकर आज तक "अक्षर प्रकाशन' नामक संस्था को चला रहे हैं।

सम्पादन कार्य

नव लेखकों और समकालीन रचनाकारों को वास्तविक जन्म देने और प्रकाश में लाने के उद्देश्य से राजेंद्र यादव ने अगस्त,१९८६ ई. से "हंस' मासिक का सम्पादन कार्य आरंभ किया। इस मासिक को आरंभ में प्रेमचंद ने चलाया था, लेकिन बाद में बन्द पड़ गयी इस मासिक को राजेंद्र यादव ने नये सिरे से शुरू किया। यह हंस का पुनर्रजन्म ही कहलाएगा पुर्नप्रस्तुत हंस के बारे में राजेंद्र कहते हैं "यह हंस अपने समय और मुहावरे से जुड़ सके, यही हमारा प्रयास है। "१ हंस का सम्पादन किसी व्यवसाय का आयोजन नहीं बल्कि इससे नव हिन्दी लेखक एवं लेखिकाओं को अपने कथा साहित्य को प्रसारित करने के लिए भूमि प्रदान करना ही हैं इसका प्रधान लक्ष्य है।

3.14 उपसंहार

आगरा शहर के संयुक्त परिवार में जन्मे राजेंद्र यादव ने संयुक्त परिवार की प्रथाओं को वर्तमान व्यवस्था के प्रतिकुल पाया। संयुक्त परिवार की त्रासदी को बहुत ही करीब से उन्होंने महसूस किया और इसी त्रासदी को उन्होंने अपने प्रथम उपन्यास "सारा आकाश' में चित्रित किया है। अपने भविष्य निर्माण के लिए आगरा से निकले राजेंद्र यादव को कलकत्ता, दिल्ली जैसे महानगरीय समस्याओं से अपना अस्थित्व वनाये रखने के लिए निरंतर जूझना पड़ा।

इन्हीं महानगरीय समस्याओं को यादवजी ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। राजेंद्र यादव स्वयं एक मध्यवर्गीय परिवार के सदस्य रहे है। अपने मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक खींचा-तान हर दिन अभावों का सामना,परिवार की चिंता समाज की अनेक मर्यादा और झूठे धार्मिक आडंबरों की मजबूत पकड़ आदि सभी को यादवजी ने नजदीक से देखा था, अनुभव किया था। इसी अनुभूति के बल परही यादवजी के उपन्यासों में मध्यवर्गीय समाज का चित्रण सागर की भांति फैला हुआ है। और इसमें चित्रित पात्र सागर की लहरों से डावा-डॉल हुई अपनी जीवन नौका पर जैसे-तैसे काबू पाकर किनारे की ओर आते दिखाई देते हैं।

उपन्यास लेखन के प्रति रूचि रखते-रखते राजेंद्र यादव की जीवन धाय कहानीकार, कवि, प्रकाशक, सम्पादक, अनुवादक तथा समीक्षक आदि में विभाजित हो गई है। राजेंद्र यादव जी को किसी एक जगह का ठहराव भाया नहीं है। इसी कारण उपन्यासकार से लेकर समीक्षक तक की एक से वढ़कर एक सीढिओं को वे पार करते आये हैं और अपने वहुमूखी होने का सच्चा दावा करने में वे सफल हो गए है। नसीब में आयी बचपन की विकलांगता ने राजेंद्र की शारीरिक गतिविधियाँ जरूर सोमित की, पर दृढ संकल्पी राजेंद्र एक से एक बढियाँ साहित्यिक रचनाओं का सृजन करते रहें और स्वयं को कुछ बनाने के प्रयास में अमरता के दरवाजों पर हर पल दस्तक देते रहें।

शारीरिक विकलांगता के बावजूद भी राजेंद्र यादवजी अपनी कुण्ठाओं पर मात करते हैं। एक सफल उपन्यासकार बन कर अपनी शारीरिक सीमाओं पर एक तरह से वो विजय ही प्राप्त करते हैं। और ऐसी ही विजय श्अनदेखे अनजान पुल' की कुरूप निन्नी ने भारत सरकार का एक जिम्मेदार पद प्राप्त कर अपनी कुण्ठाओं और हीनता बोध पर प्राप्त की है।

नोट्स

सामाजिक चेतना शब्द का अर्थ मात्र सामाजिक जागृति ही नहीं, वरन् प्रत्येक मानवीय समस्या पर सामूहिक दृष्टि से विचार करना है। समस्त सामाजिक विषमताओं से संबंधित नागरिक जीवन की समानतामूलक भावना ही सामाजिक चेतना है। भारतीय साहित्य में सामाजिक चेतना की कथा हजारों वर्ष पुरानी है, जिसका उल्लेख वेद, बुद्ध और वेदान्त की वाणी में भी मिलता है जहाँ समाज को नूतन ऊँचाइयों तक ले जाने का आह्वान किया गया है। उन्नीसवीं शती तक आते आते पश्चिम की जीवन-पद्धति के संपर्क से सामाजिक चेतना को नूतन आधार और आकार प्राप्त हुआ, जहाँ समाज संकीर्णता यानी व्यक्तिवादी चेतना से मुक्त होकर समष्टिवादी चेतना में प्रविष्ट होने लगा। इस शती में अनेक समाजसुधारकों के द्वारा समाज के अंधविश्वासों, अत्याचारों, सतीप्रथा, अन्याय, अनीति, शोषण आदि का विरोध, विधवाविवाह का समर्थन, बालविवाह का निषेध आदि पर गहरी चोटकर समाज को पुनर्गठित करने का प्रयास किया गया।

3.15 अभ्यास प्रश्न

1. राजेन्द्र यादव व्यक्तित्व तथा कृतित्व से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. राजेन्द्र यादव जन्म एवं बाल्यकाल, शिक्षा-दीक्षा पर लेख लिखिए।
3. राजेन्द्र यादव : कृतित्व से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
4. लेखन का प्रारम्भ तथा प्रेरणा को स्पष्ट कीजिए।
5. बहुमुखी प्रतिभा से क्या तात्पर्य है? बताइये।
6. साहित्य की समीक्षा को स्पष्ट कीजिए।
7. राजेन्द्र यादव की रचना-दृष्टि तथा चिन्तन पर युग का प्रभाव बताइये।

3.16 संदर्भ पुस्तकें

- वर्मा, डॉ. धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 और भाग-2. वाराणसी : ज्ञानमण्डल प्रकाशन
- डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन तिवारी
- डॉ. रामचन्द्र. हिन्दी का गद्य-साहित्य, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
- चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन
- गुप्त, गणपतिचन्द्र. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (द्वितीय भाग), इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन
- डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
- तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
- सिंह, त्रिभुवन; हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1955
- काजल, डॉ. अजमेर सिंह; उपन्यासकार राजेन्द्र यादव, संजय प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण : 2015
- परदेशी, डॉ. भाउसाहेब और देवरे, शिवाजी; राजेन्द्र यादव का रचना संसार, चन्द्रलोक प्रकाशन,

नोट्स

कानपुर, संस्करण : प्रथम 2005

- सिंह, त्रिभुवन; हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1955
- यादव, राजेन्द्र; कहानी : स्वरूप और संवेदना, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : 1985
- यादव, राजेन्द्र; अठारह उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1999
- चव्हाण, डॉ. अर्जुन; राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 1995
- यादव राजेन्द्र; औरों के बहाने, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : 1985
- सोनवणे, डॉ. चन्द्रभानु; कथाकार राजेन्द्र यादव, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण : 1982
- गीताश्री (सं.); 23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2010

इकाई-4:

निबन्ध

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 नवजागरण का प्रभाव
4.4 प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना
4.5 पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन
4.6 अनुवाद की भूमिका
4.7 नवजागरण का सामान्य परिचय
4.8 भारतेंदु युगीन निबंधों में नवजागरण का स्वरूप
4.9 समाज सुधार
4.10 धर्म सुधार की आवश्यकता पर बल
4.11 नारी चेतना
4.12 देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना
4.13 आचार्य शुक्ल का निबन्ध साहित्य
4.14 निबन्ध साहित्य की परिस्थितियाँ
4.15 निबन्ध की विशेषताएँ
4.16 निबंधकार शुक्ल जी का वैशिष्ट्य
4.17 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध साहित्य
4.18 आचार्य द्विवेदी के निबंधों में लालित्य तत्व
4.19 आचार्य द्विवेदी के निबंधों में सांस्कृतिक तत्व
4.20 आचार्य द्विवेदी के निबंधों में जीवटता
4.21 ललित निबंध की विकास यात्रा
4.22 पं. विद्यानिवास मिश्र का व्यक्तित्व एवं उनका साहित्य संसार
4.23 पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का प्रतिपाद्य
4.24 भक्तिकाल के काल विभाजन और नामकरण
4.25 भारतेन्दु युग का काल-विभाजन और नामकरण
4.26 आदिकालीन जैन साहित्य
4.27 सिद्ध-नाथ साहित्य
4.28 रासो साहित्य
4.29 कबीरदास
4.30 निर्गुण एवं सगुण भक्ति
4.31 आदिकालीन जैन साहित्य
4.32 रामभक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्य

4.33 भक्ति आंदोलन
4.34 सूफी प्रेमाख्यानक काव्य
4.35 निर्गुण काव्यधारा की ज्ञानमार्गी शाखा
4.36 सूफी प्रेमाख्यान
4.37 कृष्णभक्ति काव्य की कथ्यगत विशेषता
4.38 रीतिकालीन काव्यभाषा
4.39 पुनरुत्थानवाद की अवधारणा
4.40 छायावाद
4.41 भारतेन्दु युगीन नाटक
4.42 तुलनात्मक भाषाविज्ञान
4.43 राष्ट्रभाषा और राजभाषा
4.44 हिन्दी शब्द की उत्पत्ति एवं विकास
4.45 पिजिन और क्रियोल में अंतर
4.46 विज्ञापन की भाषा
4.47 भाषा और सामाजिक संदर्भ
4.48 सार्वभौमिक व्याकरण
4.49 हिन्दी की स्वनिम व्यवस्था
4.50 अर्थग्रहण की प्रक्रिया
4.51 मौखिक तथा लिखित वार्तालाप
4.52 ऐतिहासिक ध्वनि प्रक्रिया परिवर्तन
4.53 संसक्ति
4.54 भाषा शिक्षण के क्षेत्र
4.55 व्यतिरेकी विश्लेषण
4.56 बहिरंग अलोचना और अंतरंग आलोचना
4.57 भाषा शिक्षण की विधि
4.58 नुक्कड़ नाटक 'औरत' में स्त्री की समस्याएँ
4.59 'धोखा' निबन्ध की शैलीगत विशेषताएँ
4.60 सप्रसंग व्याख्या
4.61 शुक्ल जी के निबन्धों के भाव और मनोविकार
4.62 आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा-शैली
4.63 'संस्कृति और जातीयता'
4.64 रेखाचित्र और संस्मरण
4.65 ठकुरी बाबा की तत्त्वों के आधार
4.66 प्रेमचंद द्वारा रचित 'कलम का सिपाही'

4.67 आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'
4.68 'किन्नर देश की ओर' की शैली और भाषागत विशेषता
4.69 'अदम्य जीवन' की शिल्पगत विशेषता
4.70 'ऑक्टेवियो पॉज' नामक साक्षात्कार
4.71 व्यंग्य निबन्धकार की दृष्टि से हरिशंकर परसाई
4.72 जीवनी और आत्मकथा की तुलना
4.73 निष्कर्ष
4.74 अभ्यास प्रश्न
4.75 संदर्भ पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- निबंध के अर्थ और स्वरूप को समझ सकेंगे;
- हिंदी निबंध के उदय के कारक तत्वों को जान सकेंगे;
- नवजागरण के संबंध में अभिहित होंगे;
- हिंदी नवजागरण के बारे में सम्यक् अवधारणा प्राप्त कर सकेंगे;
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबन्ध साहित्य से परिचित हो सकेंगे;
- उन परिस्थितियों को जान सकेंगे, जिनमें आचार्य शुक्ल के निबंध साहित्य का जन्म हुआ;
- निवन्ध साहित्य की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे;
- आचार्य शुक्ल के निबंध साहित्य का आशय और कथ्य जान सकेंगे;
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध साहित्य से परिचित हो सकेंगे;
- आचार्य द्विवेदी के निवंधों में लालित्य तत्व का अवगाहन कर सकेंगे;
- आचार्य द्विवेदी के निबंधों में प्रयुक्त सांस्कृतिक चेतना को जान सकेंगे;
- हिन्दी निबंध विधा और ललित निबंध की परम्परा से परिचित हो सकेंगे;
- पं. विद्यानिवास मिश्र के व्यक्तित्व के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों के प्रतिपादय से अवगत हो सकेंगे;
- पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों की भाषा और शैली से परिचित हो सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

हिंदी गद्य साहित्य का एक आधुनिक रूप निबंध है। प्राचीन संस्कृत निवंध अथवा प्रबंध की परंपरा से आधुनिक हिंदी निबंध का संबंध जोड़ना उचित नहीं है। यह कहना अधिक समुचित प्रतीत होता है कि हिंदी

नोट्स

निबंध का आधुनिक रूप अंग्रेजी के निबंध साहित्य के प्रभाव से विकसित हुआ है। सन् 1850 ई. तक हिंदी गद्य का रूप कुछ हद तक निश्चित हो चुका था जिससे कि किसी विषय पर विचार अभिव्यक्त किया जा सके। गद्य लेखन के प्रारंभिक काल में निबंध लेखन नहीं होता है। निबंध की रचना के लिए गद्य का विकसित रूप आवश्यक है। इस संदर्भ में फोर्ट विलियम कॉलेज तथा उसके लेखकों लल्लूलाल, सदल मिश्र, मुंशी इंशा अल्ला खां, मुंशी सदासुखलाल नियाज तथा उस समय के अन्य गद्य लेखकों की देन अविस्मरणीय है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के विचार से- "गद्य-इतिहास के प्रारंभिक काल में प्राय: निबंध-रचना नहीं हुआ करती। जब गद्य की शक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है तभी निबंधों की रचना भी संभव होती है। निबंध गद्य की प्रौढ़ता का प्रतीक है।" इसी तरह, हिंदी गद्य की किशोरावस्था के पहले हिंदी निबंध लेखन की परंपरा शुरू नहीं हो पाई थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) के पहले उसके दर्शन नहीं होते हैं। हिंदी निबंध का जन्म भारतेंदु काल में होता है। यहाँ तक आते-आते हिंदी गद्य का विकसित रूप परिलक्षित होने लगता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है- "भाषा की पूर्णशक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है। भारतेंदु के समय से ही निबंधों की परंपरा हमारी भाषाओं में चल पड़ी थी जो उनके सहयोगी लेखकों में कुछ दिनों तक जारी रही। कहना न होगा कि खड़ीबोली हिंदी की पूर्णशक्ति की विकास प्रक्रिया भारतेंदु काल में शुरू हो गई थी। पं. प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, पंडित बालकृष्ण भट्ट जैसे प्रसिद्ध निबंधकारों की सक्रियता और दूरदर्शिता के चलते हिंदी निबंध का न केवल उदय हुआ बल्कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के नेतृत्व में रीतिकालीन जड़ता का विनाश हुआ और नई चेतना का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में बाबू भारतेंदु हरिश्चंद्र का साहित्य के क्षेत्र में आगमन हुआ था। उनके आगमन के साथ-साथ हिंदी साहित्य का आधुनिक काल प्रारंभ होता है। आप यह भी जानते हैं कि लगभग पूरी उन्नीसवीं शती बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब से उभरे तमाम सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों की ध्वनि से गूंज उठी थी। इन आंदोलनों से हिंदी प्रदेश भी प्रेरित हुए। फलस्वरूप, हिंदी साहित्य में भी विभिन्न आंदोलनों का प्रभाव स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। विषयवस्तु, विचार तथा अभिव्यक्ति के संदर्भ में इस कालखंड में रचित साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अलग पहचान बनाने में समर्थ पाया जाता है। भारतेंदुयुगीन रचनाओं से गुजर कर साफ पता चलता है कि विषय, रूप, भाव, भाषा आदि के स्तर पर यह साहित्य पुरानी केंचुल उतार कर नया रूप धारण करता है। इसके केंद्र में भारतेंदु हरिश्चंद्र की अग्रणी भूमिका है। एतद्पूर्व की रचनाएँ 'अभिजन समाज' से संबंधित थीं, लेकिन भारतेंदु काल में साहित्य आमजन से संबद्ध होने लगा। साहित्य और समाज के संबंधों को नये सिरे से समझने का प्रयास भी होने लगा। यहाँ परंपरा का आदर और नवीनता के प्रति प्रेम के साथ-साथ समय और समाज के प्रति आलोचनात्मक नजरिये का भी आग्रह स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतेंदु तथा उनके समकालीन निबंधकारों की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ हिंदी नवजागरण के मार्ग को अधिक स्पष्ट करती हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ख्याति हिंदी साहित्य में एक इतिहासकार, आलोचक और निबंधकार के रूप में सर्वाधिक रही है। उनके इन तीनों रूपों में भी उनकी सबसे ज्यादा ख्याति एक आलोचक की रही। तथापि एक निबंधकार के रूप में भी उनकी प्रतिष्ठा एक गंभीर विचारपरक निबंधकार की रही। वे निबन्ध जैसी विधा के बारे में, जो एक सिद्धांतकार की तरह वे सोचते थे, उसके अनुसार उन्होंने निबन्ध लेखन

नोट्स

हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्ति करने के उद्देश्य से किया। निबन्ध के स्वरूप के बारे में उनका कहना है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" वे यह भी मानते हैं कि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी निबन्ध साहित्य के प्रतिमान के रूप में अंग्रेजी या पश्चिमी साहित्य के निबन्ध साहित्य को रखा हैं। एक साहित्यिक विधाके रूप में निबन्ध में वे व्यक्तिगत विशेषता को उसकी एक आवश्यक शर्त बतलाते हैं। निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता को स्पष्ट व हुए उन्होंने कहा है कि "निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर। सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।" इस आधार पर मुख्यतः तीन तरह के निबन्ध लिखे जा सकते हैं एक भावात्मक, जिनमें भावतत्त्व प्रधान रहता है, दूसरे विचारात्मक, जिनमें विचार तत्त्व की प्रधानता होती है और तीसरे वर्णनात्मक, जिनमें वर्णन की प्रधानता होती है। वर्णन में कहीं भाव तो कहीं विचार तत्त्व का समावेश भी रहता है। इनमें भी विचारात्मक निबन्धों में व्यक्तिगत विशेषता का लाना बहुत मुश्किल काम होता है। कहना न होगा कि शुक्ल जी ने हिंदी निबन्ध में यही काम करके दिखलाया है। उन्होंने गंभीर और तात्त्विक निबन्ध लिखे और खास बात यह है कि उनमें व्यक्तिगत विशेषता का अभाव नही आने दिया। शुक्ल जी के निबन्ध उनकी भाषा शैली और भाव-विचार संगठन की दृष्टि से उनके व्यक्तित्त्व के परिचायक हैं। इस दृष्टि से लेखक एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखने का प्रयास करता है। तभी वह अपने निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता उत्पन्न करने में सफल हो पाता है। शुक्ल जी का इस बात पर भी खास बल रहा है कि कहीं ऐसा न हो कि नाना अर्थ सम्बन्धों का वैचित्र्य दिखलाने से निबंध कार के पास कहने के लिए कोई बात ही न रहे। उनके हिसाब से निबन्ध में कहने के लिए कोई बात अवश्य होनी चाहिए। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि एक अच्छा निबंधकार बुद्धि और भावात्मक हृदय को साथ लेकर चलता है। जहाँ केवल बुद्धि का चमत्कार दिखाने का प्रयत्न किया जाता है वहाँ निबन्ध किसी भावशून्य शरीर जैसा दिखाई देता है उसी तरह केवल भावों की उछलकूद करने वाला भी बुद्धिशून्य हो जाता है। कहना न होगा कि शुक्ल जी ने निबन्ध लिखकर जहाँ गद्य को कसौटी बनाया, वहीं उससे हिंदी के ज्ञान क्षेत्र को भी समृद्ध किया।

हिंदी के अनूठे उपन्याकार हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध साहित्य हिंदी में अप्रतिम है। भारतेंदु और द्विवेदी युग को हिंदी निबंध का स्वर्ण काल माना जाता है। खड़ी बोली गद्य के विकास के साथ हिंदी निबंधों का उदय और उत्थान जितना गर्वोन्नत है वह समय बाद के निबंधकारों के लिए चुनौती पूर्ण भी है। आचार्य द्विवेदी जिस पृष्ठभूमि से हिंदी में आए थे उन्हें एक ओर जीवन को समझने और अपने इतिहास को जानने की ललक थी तो दूसरी ओर ऐसी जीवटता भी थी जिसके बल पर वे आजीवन निडर और साहसी बने रहे जिसकी अभिव्यक्ति 'कुटज' निबंध में दिखाई पड़ती है– भूख प्यास की निरंतर चोट सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूं? सिर्फ़ जी ही नहीं रहे हैं हंस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरे पैठी रहती हैं। ये पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लेते हैं आचार्य द्विवेदी का जीवन जिस कथावाचक की पौराणिक परम्परा से शुरू होती है उस परम्परा को उन्होंने कई निबंधों में रेखांकित किया है किन्तु जीवन की जटिलताओं ने उनकी जीवन धारा को बार-बार चुनौती दी है और वे

नोट्स

उसे स्वीकार भी करते है। आचार्य द्विवेदी ने भारतीय सांस्कृतिक धारा की उस परंपरा को स्वीकार किया जो धार्मिक होते हुए पाखंड और रूढ़ियों के विरुद्ध खड़ी थी जिसकी अभिव्यक्ति 'ठाकुर जी की बटोर' जैसे निबंध में साकार हई है। इस निबंध में आचार्य द्विवेदी सर्वथा नए रूप में दिखाई पड़ते हैं–श्हाय हिंदू और हाय मुसलमान! आठ सौ वर्ष के निरंतर संघर्ष के बाद, एक दूसरे के इतने नजदीक रह कर भी, तुमने अपनी एक संस्कृति न बनायी।' इस प्रकार के बहुविध विषयों पर द्विवेदी जी ने विचार किया है। उनके निबंधों में मानवीय मूल्यों को विशेष तरजीह दी गयी है। उनके यहाँ लालित्य तत्व आसानी से दिखाई पड़ जाता है लेकिन इसका आशय यह नहीं हैं कि वहाँ केवल आत्म अभिव्यंजना ही है अपितु वहाँ साहित्य, संस्कृति, प्राकृतिक सौन्दर्य के भी पर्याप्त मात्र में दर्शन होते हैं। कहने का आशय यह है कि द्विवेदी जी का निबंधकार रूप उन्मुक्त रहा करता था उसे कुटज के समान किसी की परवाह नहीं रहती थी। इसी गुण को देखकर विद्यानिवास मिश्र उनके निबंधों पर अपनी बात रखते हुए कहते हैं- "सहृदयता और चिंतनशीलता दोनों ही निबंधकार के बंधन हैं, उन्मुक्त व्यक्तित्व ही इस बंधन से छुटकारा है। द्विवेदी जी के निबंधकार ने इस उन्मुक्त व्यक्तित्व को पाने की आकलता पैदा की है, इस के बाद उनके शैली का प्रभाव अपने आप ही पड़ जाता है, क्योंकि शैली तो सहज भाव की अनुवर्तिनी होती है,"। दरअसल दिवेदी जी के निबंधों की तमाम अन्य विशेषताओं में उन्मुक्त व्यक्तित्व, जिसके कारण व्यक्ति के अंदर विषयगत वैविध्यता दिखाई पड़ने लगती है।

निबंध एक छोटी गद्य रचना होती है जिसमें साहित्यकार का निजीपन झलकता है। यह एक ऐसी विधा है जिसमें व्यक्ति अपनी अनुभूति को सहजता के साथ अभिव्यक्त करता है। निबंध हमारी विचारधारा, हमारी सोच, समाज के प्रति हमारे दृष्टिकोण और हमारी भाषा की मौलिकता का दर्पण होते हैं। सामान्य रूप से निबंधों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है–

(1) वस्तुनिष्ठ निबंध (2) व्यक्तिनिष्ठ निबंध।

विद्वानों द्वारा व्यक्तिनिष्ठ निबंधों को ही ललित निबंध कहा गया है। पं. विद्यानिवास मिश्र ललित की जगह इसके लिए व्यक्तिव्यंजक नाम सर्वोचित मानते थे।

4.3 नवजागरण का प्रभाव

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में राजा राममोहन राय का नाम महत्त्वपूर्ण है। उनके द्वारा 1828 ई. में स्थापित 'ब्रह्म समाज' की बंगला नवजागरण में अग्रणी भूमिका थी। सती-प्रथा समाप्त करने के लिए उन्होंने व्यापक आंदोलन किया तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर जोर दिया। उन्होंने साप्ताहिक पत्र 'बंगदूत' का प्रकाशन 1829 ई. में शुरू किया जो अंग्रेजी, फारसी, बांग्ला तथा हिंदी में प्रकाशित होता था। उन्होंने लगभग बीस पुस्तकों का हिंदी में प्रकाशन किया। हिंदी नवजागरण के संदर्भ में भी राजा राममोहन राय की देन अविस्मरणीय है।

नवजागरण के अनन्य पुरोधा ईश्वरचंद्र विद्यासागर फोर्ट विलियम कॉलेज में हेड पंडित थे। हिंदी प्रदेश में नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र और विद्यासागर के बीच निरंतर वैचारिक आदान-प्रदान होता रहता था। भारतेंदु का न केवल विद्यासागर से बल्कि उनके समकालीन अनेक बंगला लेखकों और चिंतकों से भी सांस्कृतिक-सामाजिक सुधारों पर विचार-विमर्श हुआ करता था। केशवचंद्र सेन के विचारों

का उन्होंने सर्वाधिक समर्थन किया है। शारदा चरण मित्र, रुद्रदत्त शर्मा आदि से भी भारतेंदु का प्रत्यक्ष संबंध रहा। हिंदी निबंध इसी नवजागरण की स्वाधीन चेतना की उपज है। इस स्वाधीन चेतना के मूल में अपनी भाषा की उन्नति और विकास की चिंता है। भारतेंदु ने देखा कि बंगला और मराठी को जो पहचान प्राप्त हो चुकी थी वह हिंदी को मिलनी शेष है। तभी उन्होंने उद्घोषणा की- 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।' हिंदी प्रदेशों में निजभाषा हिंदी है तो अन्य प्रदेशों में उनकी बंगला में, मराठी में, तमिल में या अन्य किसी भाषा में जो आधुनिक सांस्कृतिक चिंतन प्रक्रिया शुरू हुई, वह 'निज भाषा' के माध्यम से और 'निज भाषा' के प्रति जागरुकता से शुरू हुई। अतः हिंदी नवजागरण के प्रसार में भारतेंदु हरिश्चंद्र का योगदान सर्वाधिक था।

भारतेंदु के समकालीन बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने अंग्रेजी को 'अनंतप्रसूता' जरूर कहा था पर उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि निजभाषा बंगला :अतुलनीय' है। 'बंगला के इतिहास के संबंध में कुछ बातें' शीर्ष निबंध में वे लिखते हैं– 'यूरोप कितना पहले सभ्य हुआ? सिर्फ चार सौ साल पहले पंद्रहवीं सदी तक यूरोप हमसे भी अधिक असभ्य था। एक घटना की बदौलत यूरोप सभ्य हो गया। अकस्मात् यूरोप ने विनष्ट, विस्मृत, अपरिज्ञात ग्रीक साहित्य का पुनराविष्कार किया। उसे पाकर जैसे क्षीणधारा स्रोतस्विनी तटप्लाविनी हो गई हो। जैसे मुमूर्ष रोगी को दैव औषधि से यौवन की ऊर्जा प्राप्त हो गई हो, उसी तरह यूरोप का एक दिन अकस्मात उदय हुआ। आज बेटार्क, लूथर, गैलिलियो, बेरुन के रूप में यूरोप का भाग्य उदय अकस्मात् हुआ। हमारा भी एक बार वही दिन आया था। अकस्मात् नवद्वीप में चैतन्य चंद्रोदय, उसके बाद रूप, सनातन आदि असंख्य कवि धर्मतत्वविद् पंडित। इधर दर्शन में रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर, जगदीश; स्मृति में रघुनंदन एवं उनके अनुयायी। फिर बंगला काव्य का जलोच्छवास। चैतन्य के पूर्वगामी विद्यापति, चंडीदास। किंतु चैतन्य परवर्ती जो बंगला कृष्णसंबंधी कविता लिखी गई वह अपरिमेय तेजस्विनी और अतुलनीय है। यह सब कहाँ से आया? सहसा इस जाति की मानसिक उद्दीप्ति कैसे हुई? इस प्रेम में कोई संकीर्णता नहीं है। उनका भाषा और जाति प्रेम राष्ट्रीयता का बाधक तत्व बनकर नहीं, साधक तत्व के रूप में उभरता है। बंकिम का मानना है कि यूरोप में पंद्रहवीं शताब्दी में 'रिनेसाँ' आया था तो भारत में भी नवजागरण की लहर उठी थी, पंद्रहवीं शताब्दी के आस-पास। रामविलास शर्मा इसे 'लोक जागरण' कहते हैं। वे बंगला नवजागरण से हिंदी नवजागरण को अलग करते हैं। लेकिन, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है भारतेंदु की बंगला नवजागरण के अग्रदूतों और पुरोधाओं से संपर्क ही नहीं, मैत्री भी थी। हिंदी क्षेत्र के लिए उपयोगी तमाम बंगला की विविध विधाओं से संबंधित कृतियों का अनुवाद भारतेंदु ने या तो स्वयं किया अथवा दूसरों से करवाया। अतः भारतीय नवजागरण के संदर्भ में उपर्युक्त विंदु पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। बहरहाल, यहाँ भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में हुए नवजागरण ने निबंध जैसी विधाओं के उदय हेतु किस रूप में सहायता की, उसकी चर्चा अपेक्षित है।

हिंदी नवजागरण और हिंदी निबंध का अटूट संबंध है। इन दोनों के संबंध सूत्र भारतेंदु हरिश्चंद्र हैं। भाषाई अस्मिता के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व आदि विषयों पर केंद्रित रचना के लिए निबंध ही सर्वाधिक उपयुक्त विधा साबित हुई। ज्ञानोदय की सफल अभिव्यंजना हेतु निबंध सबसे अधिक प्रभावी विधा सिद्ध हुई।

भारतेंदु का बांग्ला नवजागरण के पुरोधाओं के साथ मैत्री संबंध था तो हिंदी नवजागरण के दूसरे

नोट्स

निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मराठी नवजागरण से गहरा संबंध था। उन्होंने मराठी नवजागरण से संबद्ध दर्जन भर लेखकों, विचारकों, कलाकारों, गायकों की जीवनियाँ लिखीं। साथ ही, उन्होंने ताराबाई, गोदावरी बाई, रुख्माबाई, लक्ष्मीबाई जैसी अनेक तेजस्वी और संघर्षशील स्त्रियों की जीवनियाँ लिखीं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक बंगला और मराठी का निबंध साहित्य पर्याप्त समृद्ध हो चुका था। इधर हिंदी में भारतेंदु तथा भारतेंदु मंडल के निबंधकारों ने हिंदी निबंध को एक ऊँचाई देने का प्रयास किया। फलस्वरूप, द्विवेदी युग तक हिंदी निबंध को एक परिनिष्ठित रूप प्राप्त करना स्वाभाविक था। लेकिन, सबसे पहले हिंदी नवजागरण के दूसरे चरण यानी भारतेंदुयुगीन निबंध के सरोकार पर विचार करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि भारतेंदु मंडल के निबंधकार नये युग की चेतना से कहाँ तक प्रभावित थे। अथवा उनके निबंधों में युगीन चिंता किस रूप में अभिव्यंजित हुई है?

भारतेंदु युग के प्रमुख निबंधकारों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुंद गुप्त, लाला श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री आदि उल्लेखनीय हैं। इन निबंधकारों ने जनचेतना प्रसारित करने, औपनिवेशिक सत्ता के विरोध का साहस बढ़ाने, जातीय संस्कृति का भाव जगाने, जीवन को गतिशील बनाने वाले मूल्यों में आस्था प्रकट करने का आग्रह किया है। राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से भी निबंध लिखे गये। विज्ञान, समाजशास्त्र, साहित्य, संस्कृति, समाज-सुधार, इतिहास, पुरातत्व आदि विविध विषयों पर निबंध लिखकर लेखकों ने अपने सृजन के आयतन को भी बहुत अधिक व्यापकता प्रदान की है। राष्ट्र का विकास इस युग के निबंध का चरम और परम लक्ष्य था। स्वाधीन चेतना इस दौर के निबंध साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता थी। इनमें तत्कालीन समाज में प्रचलित बाल-विवाह का विरोध है तो बेरोजगारी पर गहरी चिंता व्यक्त हुई है। स्त्री-शिक्षा का आग्रह भी है और विधवा विवाह पर भी बल दिया गया है। हिंदी नवजागरण के दूसरे चरण में निबंध का उदय और उसकी समृद्धि, उसके वैविध्य और उसके वैभव ने हिंदी निबंध साहित्य को महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान किया। इस युग के सभी निबंधकारों की चर्चा यहाँ संभव नहीं है।

भारतेंदु ने अनेक विषयों पर निबंध लिखे हैं। 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण', 'वैद्यनाथ धाम', 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' आदि उनके निबंध विविध भावबोधों से संबद्ध हैं। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' आदि में भारतेंदु ने हास्य-व्यंग्य शैली में उत्कृष्ट निबंध लिखे हैं। बलिया के ददरी मेले में 1884 में दिया गया उनका भाषण 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' न केवल भारतेंदु का बल्कि पूरे हिंदी निबंध साहित्य की एक अनमोल रचना मानी जा सकती है। इसमें लेखक की चिंता, विचारधारा, जागरूकता, दृष्टिकोण आदि स्पष्टतया उभरकर सामने आते हैं– 'भाई हिन्दुओं! तुम भी मत-मतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जाप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारी यहाँ बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैण्ड, फ्रांसीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है, दिआ-सलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस लांकिलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंग्लैण्ड का है। फ्रांसीस की बनी कंघी से तुम सिर

नोट्स

झारते हो और वह जर्मनी की बनी चरवी की बत्ती तुम्हारे सामने जल रही है। यह तो वही मिसाल हुई कि एक फिकरे मँगनी का कपड़ा पहिन कर किसी महफिल में गए। कपड़े की पहिचान कर एक एक ने कहा, अजी यह अंगा फलाने का है। दूसरा बोला, अजी, टोपी भी फलाने की है। तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया कि घर की तो मूंछे ही मूछे हैं। हाय अफसोस, तुम ऐसे हो गए कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयो, अब तो नींद से चौंको। अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।' हिंदी नवजागरण के तीसरे चरण में महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि और श्रेष्ठ निबंधकार हैं। अध्यापक पूर्ण सिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाब राय आदि ने हिंदी निबंध की दिशा को आगे बढ़ाया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी निबंध को शिखर तक पहँचाया। उनके मनोभावों और काव्यमल्यों से संबंधित निबंधों का चिरंतन महत्त्व है। भारतीय मनीषा के उत्कर्ष को उनके निबंधों में देखा जा सकता है।

अस्तु, निबंध नवजागरण काल की देन है। यूरोप में पुनर्जागरण के दौरान इसका उदय हुआ था तो भारत में बंगला और मराठी के बाद हिंदी नवजागरण के दौरान भारतेंदु हरिश्चंद्र की अपार दूरदर्शिता के कारण हिंदी निबंध का उद्‌भव और आशातीत विकास हुआ। नवजागरण की चिंताएँ एवं आकाक्षाएँ निबंध साहित्य में भली-भाँति रूपारि कहना न होगा कि निबंध और नवजागरण का अन्तस्सम्बन्ध है। निबंधकारों ने निजी अनुभवों को प्रामाणिक तथा विश्वसनीय अभिव्यक्ति दी है। अनुभवों की विविधता और प्रामाणिकता को समाज तथा राष्ट्र के हित के लिए प्रस्तुत करने में नवजागरणकालीन निबंधकारों को विशेष सफलता प्राप्त हुई थी।

4.4 प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना

छापाखाने के स्थापित होने से नवजागरण का क्षेत्र विस्तृत हुआ। सन् 1430 में हालैंड में प्रिंटिंग प्रेस का आविष्कार हुआ था। भारत में सबसे पहले ईसाई धर्म प्रचारकों ने सन् 1556 में गोआ में एक प्रिंटिंग प्रेस स्थापित की। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों का ध्यान इस ओर आकृष्ट न हुआ। डच जाति के विलियम बोल्ट ने 1766 ई. में प्रेस लगवाया। इसके फलस्वरूप उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ा। पहले कलकत्ता से चेन्नई (मद्रास) भेजा गया, फिर भारत में वह प्रतिबंधित हो गया। 1774 में कंपनी सरकार ने प्रेस की स्थापना स्वयं की और 'कलकत्ता गजट' छापा। इसके पाँच साल बाद प्रथम भारतीय बाबूराम ने कलकत्ता में अपना प्रेस खड़ा किया। सन् 1793 में कलकत्ता के क्रानिकल प्रेस में गिलक्राइस्ट की पुस्तक 'हिंदुस्तानी ग्रामर' का मुद्रण हुआ। फोर्ट विलियम कॉलेज और बैप्टिस्ट मिशन श्रीरामपुर ने भी अपने-अपने प्रेस खोले। 1817 में कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना हुई और उसमें अंग्रेजी, अरबी, फारसी, संस्कृत, बंगला और हिंदुस्तानी में किताबें प्रकाशित हुईं। छापेखाने की इस व्यवस्था के चलते जागरण के अभियान को बड़ा बल मिला। राजा राममोहन राय के सुधार आंदोलन तक हिंदी पत्रकारिता पर्याप्त लोकप्रिय हो चुकी थी । आगस्टस जैसे पत्रकारों ने सरकारी काम-काज का भंडाफोड़ भी किया था। यह बात अलग है कि इन्हें अपनी लेखनी से भंडाफोड़ करने के कारण कंपनी सरकार का कोपभाजन होना पड़ा। लेकिन जनजागरण की भावना तेजी से प्रसरित हुई।

नोट्स

लार्ड वेलेजली ने प्रेस पर प्रतिबंध लगाया। लेकिन श्रीरामपुर मिशन ने 1818 में 'दिग्दर्शन' और 'समाचार दर्पण' का प्रकाशन किया। 1835 में मेटकाफ ने प्रेस को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। अंग्रेजों के प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना का उद्देश्य व्यापारिक-राजनीतिक हित साधन था, जबकि राजा राममोहन राय तथा उनके अनुयायियों ने नवजागरण को प्रभावी तथा सफल बनाने के लिए प्रेस का इस्तेमाल किया था। प्रेस ने पढ़े-लिखे वर्ग को नई चेतना से संपन्न करने का काम किया और अनपढ़ लोगों को भी परोक्ष ढंग से नवयुग की भावनाओं से भरने का काम किया। पढ़े-लिखे लोगों के संपर्क व सान्निध्य में आने के बाद कम पढ़े लिखे या अनपढ़ लोगों को भी समाचार पत्र या पत्रिकाओं के प्रकाशन से प्राप्त ज्ञान का लाभ मिलता रहा। अतः नवजागरण के इतिहास में प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की विशेष भूमिका रही।

4.5 पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन

नवजागरण में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। पत्र-पत्रिकाओं ने निबंध के प्रचार और प्रसार में विशिष्ट भूमिका निभाई। प्रेस और प्रकाशन की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय साहित्य तथा हिंदी साहित्य की भी पूरी संस्कृति बदल गई। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के चलते अनेक विधि निषेध समाप्त हो गये। साहित्य का स्वरूप बदलने लगा। इसी क्रम में गद्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ निबंध भी एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा के रूप में उभरा और प्रतिष्ठित हुआ। भारतेंदु के पहले पत्र-पत्रिकाओं का काफी विकास हो चुका था। इनका संबंध प्रत्यक्ष रूप से जनजागरण से था। कलकत्ता जनजागरण या नवजागरण का केंद्र था। अतः हिंदी पत्रकारिता का आरंभ यहीं से हुआ। भारतेंदु के उदय के पूर्व की महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएं थीं : (1) उदंत मार्तंड, 1826, साप्ताहिक, कलकत्ता (2) बंगदूत, 1829, साप्ताहिक, कलकत्ता (3) प्रजामित्र, 1834, साप्ताहिक, कलकत्ता (4) बनारस अखबार, 1845, साप्ताहिक, बनारस (5) मार्तंड 1846, साप्ताहिक, कलकत्ता (6) समाचार-सुधावर्षण, 1854, दैनिक, कलकत्ता आदि। इनका उद्देश्य जनता में जागरण और सुधार की भावना उत्पन्न करना था। भारतेंदु हरिश्चंद्र अप्रतिम पत्रकार थे। उन्होंने न केवल तीन पत्रिकाएँ स्वयं निकालीं बल्कि औरों को भी पत्रिका प्रकाशन हेतु प्रेरित किया तथा आर्थिक सहयोग भी दिया। निबंधों का संबंध पत्र-पत्रिकाओं से सीधे जुड़ा हुआ है। इस दौरान हिंदी भाषा का रूप काफी स्थिर और परिमार्जित हो चुका था। जागरण और सुधार का प्रसार भी तेज हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में गंभीर एवं चिंतनपरक निबंध भी प्रकाशित हुए। भारतेंदुकालीन निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाओं ने निबंध के उदय और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया –

(1) कविवचनसुधा, मासिक/पाक्षिक/साप्ताहिक, 1868 काशी (2) सुलभ समाचार, साप्ताहिक 1871, कलकत्ता (3) बिहारबंधु, मासिक, बांकीपुर 1871 (4) हरिश्चंद्र मैग्जीन, मासिक, बनारस, 1871 (5) बालाबोधिनी, मासिक, बनारस 1874 (6) आनंद कादंबिनी, मासिक, मिर्जापुर, 1881 (9) ब्राह्मण, मासिक, कानपुर, 1883 (10) काशी समाचार, साप्ताहिक, काशी, 1883, (11) हिंदी बंगवासी, साप्ताहिक, कलकत्ता, 1890 (12) श्री वेंकटेश्वर समाचार, साप्ताहिक, बंबई, 1895 (13) नागरीप्रचारिणी- पत्रिका, त्रैमासिक, काशी, 1896 (14) रसिक पत्रिका, साप्ताहिक, कानपुर, 1897 (15) सरस्वती, मासिक, इलाहाबाद, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, 1900 ने हिंदी निबंध को 'सरस्वती' के माध्यम से शिखर का प्रयास किया।

नोट्स

4.6 अनुवाद की भूमिका

आपने अब तक पढ़ा कि हिंदी निबंध के उदय में गद्य का विकसित रूप, प्रेस की स्थापना, नवजागरण और पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अब हम निबंध के उदय में अनुवाद द्वारा निभाई गई भूमिका की चर्चा करेंगे।

हिंदी के आरंभिक कई निबंध ऐसे हैं जो किसी न किसी मूल अंग्रेजी निबंध के छायानवाद हैं। मदनमोहन भट्ट द्वारा स्माइल्स के निबंधों का अनुवाद 'परम पुरुषार्थ' के नाम से 1885 के आस-पास किया था। इसी तरह काशीनाथ खत्री ने 1887 में जॉन स्टुअर्ट ब्लैकी के 'सेल्फ कल्चर' का 'नीत्युपदेश' शीर्षक से अनुवाद किया था। हिंदी के प्रसिद्ध लेखक श्यामसुंदर दास ने 'एड्स ऑफ कंटेंटमेंट' का छायानुवाद 'संतोष' शीर्षक से प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं, प्रारंभिक दिनों में जो निबंध-संग्रह प्रकाशित होते थे, उनमें भी अंग्रेजी निबंधों के अनुवाद पाये जाते हैं। मसलन, वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा संपादित 'साहित्य संग्रह' (1886) का उल्लेख किया जा सकता है। अंबिका दत्त व्यास ने 'साहित्य नवनीत' (1899) में अंग्रेजी निबंधों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया था। इनके अतिरिक्त विष्णकृष्ण शास्त्री चिपलूनकर के मराठी निबंधों का अनुवाद गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने 'निबंध मालादर्श' 1899 में प्रस्तुत किया। यह ग्रंथ हिंदी निबंध के लिए दिशा निर्देशक माना जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी 'सरस्वती' कछ मराठी निबंधों के अनुवाद प्रकाशित कर हिंदी निबंध को गति प्रदान की थी। द्विवेदी जी ने 1900 में फ्रांसिस बेकन के निबंधों का संकलन 'बेकन-विचार-रत्नावली' शीर्षक से प्रस्तुत किया। अंग्रेजी और मराठी के निबंधों का अनुवाद प्रस्तुत करना अनुवादकों की दूरदर्शिता का परिणाम है। इसे महज संयोग समझना उचित न होगा। इन निबंधों में निहित गांभीर्य और बौद्धिकता को प्रस्तुत करते हुए अनुवादकों का यह भी दृष्टिकोण रहा होगा कि कोरी भावुकता से निबंध लेखन सार्थक नहीं होता। ये दोनों अनूदित ग्रंथ हिंदी निबंध के मील के पत्थर साबित हुए। यहाँ अनुवादक के चिंतन नवजागरण के 'भावकतावाद' की कमियों को भी दूर करने के उद्देश्य से ऐसे अनुवाद ग्रंथों का महत्त्व परिलक्षित होता है। इस प्रकार हिंदी निबंध के आरंभिक काल में अनुवादों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उपर्युक्त पाँच कारणों के अतिरिक्त निबंध विधा के उदय के अन्य भी कारण हो सकते हैं। जैसे, निबंधकारों और पत्रकारों की निष्ठा और लगन अविस्मरणीय है। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में- "भारतेंदु युग का सबसे विकसित साहित्यिक रूप निबंध था। निबंध रचना का यह कौशल उन कलाकारों का अपना था और पत्रकारिता की भूमि पर वह फला-फूला था। दो-दो, चार-चार आने की पत्रिकाएँ निकालकर वे अपना साहित्य जनता तक पहुँचाते थे और आये दिन की समस्याओं पर पत्रकारों की तरह लेख आदि भी लिखते थे।"

4.7 नवजागरण का सामान्य परिचय

जागरण का अर्थ जाग्रत होना। जाग्रत होने के पूर्व। सुषुप्तावस्था होती है। जब कोई जाति, समाज अथवा देश अपनी 'कंभकर्णी निद्रा' छोड़कर जाग्रतावस्था की ओर उन्मुख हो तो उसे जागरण की दशा के रूप में जान सकते हैं। सदियों की दासता को त्यागने अथवा उससे मुक्ति पाने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीयों ने अंगड़ाई ली। उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता आई। ज्ञान-विज्ञान के विकास

नोट्स

ने उनके विचार तथा विश्वास को समृद्ध किया। अंधी आस्था के स्थान पर स्थितियों की जाँच-पड़ताल और प्रश्नाकुलता पर अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। नये और पुराने के बीच संघर्ष अथवा प्राचीन संस्कृति के प्रति मोह, नवजागरण के दौर में रचे गए साहित्य में बार बार ध्वनित हुआ है।

यूरोप के 'रेनेसाँ' की तर्ज पर भारत में नवजागरण की अवधारणा विकसित हुई है। लेकिन यूरोपीय 'रेनेसाँ' से भारतीय नवजागरण या हिंदी नवजागरण सर्वथा भिन्न है। यूरोप में रेनेसाँ पंद्रहवीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ था। लगभग तीन-चार सौ वर्षों की लंबी अवधि तक वहाँ रेनेसाँ की स्थितियाँ बनी रहीं। अलग हवा, मिट्टी और पानी में हिंदी नवजागरण की मूल प्रकृति उभरती है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से हिंदी नवजागरण का प्रारंभ माना है। उन्होंने हिंदी प्रदेशों में वैचारिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में जनजागरण शब्द का प्रयोग करना उचित माना है। हिंदी प्रदेशों के जनजागरण को उन्होंने दो भागों में बाँटा–

(क) सामंतविरोधी जनजागरण और

(ख) साम्राज्यविरोधी जनजागरण।

उन्होंने पहले प्रकार का प्रारंभ उत्तर भारत से माना है तो पलासी के युद्ध से लेकर पहला स्वतंत्रता संग्राम तक (1757-1857) तक के काल को दूसरे के अंतर्गत रखा। यहाँ मुख्य शत्रु अंग्रेज थे।

हिंदी नवजागरण पर व्यवस्थिति तथा वैज्ञानिक ढंग से विचार करने वालों में डॉ. रामविलास शर्मा का नाम महत्त्वपूर्ण है। हिंदी नवजागरण संबंधी उनके लेखन से हिंदी नवजागरण को स्वतंत्र विषय के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इस संदर्भ में डॉ. मैनेजर पांडेय ने लिखा भी है- "उनके हिंदी नवजागरण संबंधी लेखन के फलस्वरूप हिंदी नवजागरण को स्वतंत्र विचारणीय विषय के रूप में मान्यता मिली है, अन्यथा कुछ समय पहले या तो भारतीय नवजागरण की बात होती थी या बंगाल के नवजागरण की। पहले हिंदी नवजागरण के विचारकों और साहित्यकारों पर बंगाल के नवजागरण के प्रभाव की ही चर्चा अधिक होती थी। ऐसा लगता था कि हिंदी के साहित्यकार केवल प्रभाव ग्रहण करने के लिए ही बैठे हुए थे, उनका अपना कुछ था ही नहीं। उन्होंने हिंदी नवजागरण के स्वरूप और उसकी विशेषताओं का विश्लेषण करके हिंदी वालों की आत्महीनता की भावना को दूर किया है।"

हिंदी नवजागरण को चार चरणों में विभाजित करते हुए रामविलास शर्मा ने इसके पहले चरण को 1857 से प्रारंभ होने की बात कही है। भारतेंदु के काल को इसका दूसरा चरण माना है। द्विवेदी युग तीसरा चरण है तो छायावाद हिंदी नवजागरण का चौथा चरण है।

इस इकाई में हम हिंदी नवजागरण के दूसरे चरण में निबंध साहित्य के आधार पर हिंदी नवजागरण के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाना अनुचित न होगा कि साहित्य की तमाम विधाओं में से निबंध विधा में विचारों का संगुफन सर्वाधिक उत्तम ढंग से होता है। निबंधकार अपने विचारों को अत्यंत व्यवस्थित एवं प्रभावपूर्ण तरीके से व्यक्त करता है। जहाँ तक भारतेंदुयुगीन निबंधों में हिंदी नवजागरण के संदर्भ हैं, इतना तो स्पष्ट संकेतित होता है कि इनमें साम्राज्यवाद विरोधी चेतना प्रकट हुई है। इतिहास और परंपरा का नये सिरे से मूल्यांकन करने का प्रयास हुआ है। रूढ़िवाद, जातिवाद आदि का विरोध है तो जातीय भाषा और जातीय संस्कृति के विकास हेतु चिंता व्यक्त हुई है। वैज्ञानिक चेतना के प्रसार की कोशिश भी दिखाई पड़ती है। पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन से हिंदी निबंध साहित्य के

विकास को बल मिला। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट आदि ने पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया, निबंध एवं लेख लिखे। यह सच है कि भारतेंदुकाल में निबंधों की तुलना में लेखों और टिप्पणियों की संख्या अधिक है। फिर भी, नवजागरण के विकास में निवंधों की भूमिका का विवेचन करना उचित प्रतीत होता है।

नोट्स

4.8 भारतेंदु युगीन निबंधों में नवजागरण का स्वरूप

भारतेंदु युग के निवंधकारों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेंदु ने विविध विषयों पर निबंध लिखे हैं। उनमें से अंग्रेजों से 'हिंदुस्तानियों का जी क्यों नहीं मिलता', 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन', 'स्त्री-सेवा-पद्धति', 'अथ मदिरास्तवराज' चर्चित हैं। बालकृष्ण भट्ट के निबंध अधिक परिपक्व हैं। उन्होंने राजनैतिक, साहित्यिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि विषयों पर गंभीर निवंध लिखे हैं। उन्होंने हल्के-फुल्के विषयों पर भी व्यंग्यात्मक शैली में निवंध लिखे हैं। वे हिन्दी के गिने चुने श्रेष्ठ निबंधकारों में भी महत्त्व स्थान रखते हैं. 'आँख', 'खटका', 'जवान', 'नहीं', 'जी', 'द', 'नाक', 'ढोल के भीतर पोल' जैसे निबंधों में हास्य-व्यंग्य, भावुकता और गंभीर विचारात्मकता का संदर समन्वय स्थापित किया है।

प्रताप नारायण मिश्र ने सामाजिक-धार्मिक वंधनों की कभी परवाह नहीं की। उनके निबंधों में एक ओर वैचारिकता है तो दूसरी ओर उनकी जिंदादिली। आत्मीयता, भावों और विचारों की समन्वयात्मकता, व्यंग्य विनोद प्रियता, उक्ति चमत्कार आदि उनके निबंधों की विशेषताएँ हैं। उनके चर्चित निबंध हैं- 'होली है', 'बुढ़ापा', 'भौं', 'धोका', 'दांत', 'ट', 'द', 'आप', 'तिल', 'बात', 'खुशामद' आदि। विषय की दृष्टि से आपके निबंध सामाजिक कहे जा सकते हैं। सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर व्यंग्य खूब मिलते हैं। आपके निबंधों में सुधारवादी दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। भारतेंदयगीन अन्य निबंध कारों की तरह आपने भी धर्म, समाज, राजनीति और राष्ट्रीयता को ही अपना वर्ण्य विपय और विवेचना का विषय बनाया है। प्रताप नारायण मिश्र का एक ओर प्राचीन संस्कारों के प्रति प्रबल आकर्षण दिखाई पड़ता है तो समकालीन विचारधारा के प्रति उदासीन न रहने का आग्रह भी है।

भारतेंद्-युग के निबंधकारों में बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। सामाजिक निबंधकार के रूप में आपको विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। अपने समकाल के राजनीतिक आंदोलनों एवं हलचलों पर भी आपने बेबाक लेखन किया है। प्रेमघन ने धर्म, सभ्यता और समाज पर निर्भीकता के साथ लेखनी चलाई है। 'नेशनल कांग्रेस की दर्दशा', 'भारतीय प्रजा के दःख की दहाई और ढिठाई पर गवर्नमेंट की कड़ाई' जैसे निवंधों से उपर्यक्त विपय की पुष्टि की जा सकती है। कहा जा सकता है कि इस युग के निबंध साहित्य में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सुधार एवं देश-प्रेम की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। आइए, अब हम भारतेंदुयुगीन निबंधों में नवजागरण के पदचिह्नों का अन्वेषण करें।

4.9 समाज सुधार

भारतेंदु हिंदी नवजागरण के अग्रदूत हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेंदु तथा उनके समकालीन लेखकों के संबंध को 1857 से जोड़ते हुए लिखा है- "भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन लेखकों को 1857 से

जोड़ने वाली दो प्रमुख चीजें हैं : (1) राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य और (2) अंग्रेजी राज के स्वरूप की पहचान।" भारतेंदु देश की दुर्गति के लिए अंग्रेजों को जिम्मेदार ठहराते हैं तो समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर लेखन कार्य भी करते हैं।

सक्रिय सामाजिक एवं साहित्यिक कार्यकर्ता होने के कारण भारतेंदु युगीन निबंधकारों ने सामाजिक सुधारमूलक कार्यों में आगे बढ़कर काम किया। भारतेंदु के सेवा-कार्य और उनकी दानशीलता से पीड़ित समाज को काफी लाभ मिला। उनकी यही सामाजिक सक्रियता उनके लेखन में भी प्रतिफलित होती है।

अंग्रेजों की उपस्थिति में श्रेष्ठ होने की भावना' पहले की तुलना में अधिक पेचीदा स्थिति में पहुँची। अभी तक हिंदू मुसलमान एक दूसरे को श्रेष्ठ समझते थे। लेकिन अंगरेज जाति ने उनकी सांस्कृतिक विरासत को कटघरे में खड़ा कर दिया तो भारतेंदु तथा उनके समसामयिक निबंधकारों के पास धर्म की ओर अधिक उन्मुख होने के अलावा दूसरा कोई चारा न था। लेकिन धर्म के नाम पर रूढ़ियों का समर्थन नहीं किया गया। इन निबंधकारों ने रूढ़ियों का भरसक विरोध किया। भारतेंदु ने 'पानी में पानी डालने से क्या लाभ? पूछा था। इससे उन्होंने तर्पण का विरोध किया तो सोमरस पान करने की प्रथा को गौरवान्वित करनेवालों का भी विरोध करते हुए 'स्तोत्र पंचरत्न' के 'अथ मदिरास्तवराज' में लिखा है- "हे कुलमर्यादासंहारकारिणि तुमसे बढ़कर न किसी की बात है, न आग्रह, न मान। तुम्हारे हेतु तुम्हारे प्रेमी कुल, धन, नाम, बल, मेल, रूप, वरंच प्राण का भी परित्याग करते हैं, अतएव हे प्रेणवैक पात्र! तुम्हें प्रणाम है। ..... हे मुखकज्जलावलेपके! हे पूर्वपुरुष संचित विद्या धन राज संपर्कादि जन्य कठिन प्राप्य प्रतिष्ठा समूह सत्यानाशिनी! तुम्हें बारंबार प्रणाम करना योग्य है।"

देश की प्रगति में आलस्य बाधक तत्त्व है। भारतेंदु ने लिखा है- "इस अभागे आलसी देश में जो कुछ भी हो जाये त कुछ है।" आलस्य त्यागे बिना विकास संभव नहीं है। 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है' शीर्षक निबंध में वे कहते हैं "यह उसी का विलक्षणपन है कि हिंदू निर्लज्ज हो गए हैं, ऐसे समय में जबकि सब आगे बढ़ा चाहते हैं ये चूकते हैं और पीछे ही रह जाते हैं विशेष सब संसार का आलस्य पश्चिमोत्तर देशवासियों में घुसा है और अपने को भूल रहे हैं, क्षुद्रपना नहीं छूटता इसी से।" लंबे समय तक पराधीन रहने वाले देश के लोगों में आत्मचेतना तथा समाजसुधार की भावना को प्रोत्साहित करने में भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंधों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

4.10 धर्म सुधार की आवश्यकता पर बल

सामाजिक अव्यवस्था और विकृतियों के मूल में धर्म की बड़ी भूमिका होती है। भारतेंदु युग के निबंध कारों ने धर्म सुधार की आवश्यकता को भली-भाँति महसूस किया था। स्वयं भारतेंदु ने धर्म में भिन्नता के कारण की खोज करते हुए लिखा है- "हम आर्य लोगों में धर्म तत्व के मूल ग्रंथों का भाषा में प्रचार नहीं, यहीं का माहात्म्य, छोटी-छोटी बातों में ब्रह्महत्या का पाप और तच्छ-तच्छ बातों में बड़े-बड़े यज्ञों का पण्य, अहं ब्रह्म का ज्ञान और मल धर्म छोड़कर, उपधर्मों के आग्रह ने भारतवर्ष से वास्तविक धर्म का लोप कर दिया।"

धर्म के नाम पर व्याप्त अराजकता और अव्यवस्था का भी निबंधकारों ने सख्त विरोध किया है। धर्म की संकीर्ण भावना और धार्मिक नेताओं के असदाचरण ने जाति समस्या को भड़काने में मदद की। इस

नोट्स

विषय पर भारतेंदु लिखते हैं- "धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वा एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले-सड़े सूत वा चिऊँटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है।" भारतेंदु समस्या को प्रस्तुत भर नहीं करते बल्कि समस्या के समाधान का भी उपाय सुझाते हैं. उनका सर्वाधिक चर्चित निबंध "सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखों अंग्रेजों की धर्मनीति और राजनीति परस्पर मिली है, इससे उनकी दिन-दिन कैसे उन्नति है।"

प्रेमघन के दीर्घ निबंध 'हमारे धार्मिक, सामाजिक वा व्यावहारिक संशोधन' में भारत की दुर्दशा का चित्रण है। साथ ही, इसमें भारतीय जनता को जाग्रत करने का प्रयास है। धार्मिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक सुधारों की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है–

दुर्भाग्यवशात: जो दुर्दशा के दिन सम्प्रति भारत भोग कर रहा है उसका स्मरण न करना ही उसके सच्चे हितैषियों के लिए यदि अच्छा कहें तो कदाचित् कुछ अनुचित न होगा, क्योंकि वास्तव में उसका उन्हें स्मरण नितान्त दु:खद है। आज कल तो मानों गोधूली का सा समय है जिसे हम दु:ख की रात वा सुख का दिन कह सकते, अथवा न जिसे यथार्थ उन्नति वा अवनति का काल मान सकते हैं, क्योंकि दो चार विषय में जो इधर देश उन्नति भी कर रहा है, तो उधर बीसों बातों में सीमावाह्य अवनति वा सर्वस्वाहा हुआ जाता है! यदि सोचते हैं कि वर्तमान समय के बचे बचाये बुड्ढे लोग अधिकांश मूर्ख, दुराग्रही और अनेक मिथ्या विश्वास के फन्दे में पड़े बहुत कुछ देश की अवनति के कारण हैं, तो साथ ही पाश्चात्य शिक्षा सम्पन्न नवीन जोतिधारी युवक उनसे अधिक अकर्मण्य, प्रमादी और विपरीत बुद्धि और दुष्टाचरण वाले लखाई पड़ते हैं। यदि अनेक प्रचलित प्रणाली दूषणीय दिखलाती, तो जिस प्रकार उसका संशोधन विचारा जाता वह उसमें के रहे सहे गुण को भी समूल नाश करने में समर्थ सा समझ पड़ता! और इस भाँति यथार्थ कल्याणप्रद और श्रेयस्कर यत्न किसी ओर दृष्टिगोचर नहीं होता।

4.11 नारी चेतना

भारतेंदु काल के निबंधकार नारी शिक्षा को आवश्यक मानते थे। स्वयं भारतेंदु ने नारी-शिक्षा के प्रचार हेतु उसे प्रोत्साहित करने के अनेक प्रयास किए। उन्होंने विधवा विवाह को अधिक महत्त्व दिया था। भारतेंदु के अनुसार बच्चे के लिए सबसे अच्छी शिक्षिका मां है। अत: माँ का शिक्षित होना अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका का संपादन भी इस आशय से किया था। यह सच है कि इस काल के निबंधकारों की नारी दृष्ट में अंतर्विरोध है लेकिन, इन लेखकों ने नारी को मनुष्य के रूप में देखने का पूरा प्रयास किया है। ये निबंधकार नारी को विविध रसों में चित्रित करते हैं।

4.12 देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना

भारतेंदु युगीन निबंधों में देशभक्ति की भावना और राष्ट्रीय चेतना का प्रकाशन सबसे अधिक हुआ है। इन निबंधों में समाज-सुधार, धार्मिक रूढ़ियों का खंडन, अंग्रेजों के अत्याचार, भारत के प्राचीन गौरव, देश की वर्तमान हीनावस्था आदि विषयों की चर्चा हुई है। पराधीन भारत में भारतीयों पर होने वाले तरह-तरह के अत्याचारों का वर्णन इन निबंधों में मौजूद है। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के कारण फूट डालने में कामयाबी हासिल की। देश दरिद्र से दरिद्रतर होता जा रहा था। देश की सारी संपत्ति विदेश चली जा

नोट्स

रही थी। समाज में अंतः तथा वाह्य समस्याएँ सिर चढ़ कर बोलने लगी थीं। ऐसी स्थिति में भारतेंदु तथा उनके समसामयिक लेखकों के लिए आँख बंद करके बैठे रहना संभव न था। औपनिवेशिक अंग्रेजी राज की चालाकियों तथा उसके कुचक्रों को पर्दाफाश करने के लिए भी इन निबंधकारों ने प्रयास किया है। इन्होंने औपनिवेशिक आतंकवाद को पूरी तरह महसूस किया था।

देश की तत्कालीन दुर्दशा का भी इन लेखकों ने यथार्थ चित्रण किया है। साथ ही उसके कारणों का भी खुलासा किया है. इस संदर्भ में बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभू का चिट्ठा' का महत्त्व सर्वोपरि है। 'बनाम लार्ड कर्जन' शीर्षक निबंध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है- "आपने भाई लार्ड! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है? खाली अपना ख्याल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिए भी कुछ कर्तव्य पालन किया? एक बार यह बातें धीरता से मन में विचारिए। आपकी भारत में स्थिति की अवधि के पाँच वर्ष पूरे हो गए। अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में, मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिए, नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन-सी कर चले हैं और भड़कबाजी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा है?"

प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवास दास आदि के निबंधों में भी साम्राज्यवादी चालाकियों के विरोध के साथ-साथ जनता की रूढ़िवादिता, धर्मांधता, उसके आलस्य, झूठी शान-शौकत के विरुद्ध आवाज उठाई गई है।

भारतेंदु ने साम्राज्यवाद का तीव्र विरोध किया है। उन्होंने टैक्स पर प्रहार करते हुए लिखा है- "तुम नृसिंह हो क्योंकि मनुष्य और सिंह दोनों पन तुममें है, टैक्स तुम्हारा क्रोध है और परम विचित्र हो, तुम वामन हो क्योंकि तुम वामन कर्म में चतुर हो। कौंसिल तुम्हारा मुख है, मान तुम्हारी नाक है, देश पक्षपात तुम्हारा मोक्ष है और टैक्स तुम्हारे कराल द्रष्टा है। खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अंग्रेज! हम तमको प्रणाम करते हैं।" अंग्रेजों के अत्याचारों से भारतीय जनजीवन त्रस्त तथा भयभीत था। भारतेंदु ने इस स्थिति का चित्रण किया है- "चुंगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा हैं, अमले तुम्हारे नख हैं, अंधेर तुम्हारे पृष्ठ हैं और आमदनी तुम्हारा हृदय है। अतएव हे अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं।"

भारतेंदु साम्राज्यवादी शक्ति का केवल विरोध ही नहीं करते बल्कि भारत को शोचनीय दुर्दशा से मुक्त करने के लिए स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार के लिए 1874 के 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित करते हैं- "हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे, किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिनेंगे। हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत् बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषी देशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।" कहना न होगा कि यग प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'स्वदेशी' के प्रयोग पर बहुत अधिक बल दिया है- "भाइयो, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसे ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"

4.13 आचार्य शुक्ल का निबन्ध साहित्य

नोट्स

हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते हुए उन्होंने आधुनिक काल में जब गद्य साहित्य के उत्थान के बारे में लिखा तो गद्य की कसौटी मानने वाली निबन्ध विधा पर बहुत गंभीरता से विचार करते हुए इस बात पर अफसोस भी जाहिर किया कि जीवन से सीधे सीधे सम्बन्धित स्थायी विषयों पर निबन्ध लिखने की जो शुरुआत भारतेंदु युग में हुई, उसका विकास आगे बहुत कम हो पाया है और यह भी कई जगह पर लिखा कि इस तरह के निबन्ध उनके समय में भी कम लिखे जा रहे हैं। कहना न होगा कि इस अभाव की पूर्ति करने के लिए उन्होंने स्वयं कलम उठाई और जीवन के स्थायी विषयों पर मनोविकारों से सम्बन्धित स्थायी महत्त्व के निबन्ध लिखे। चाहे आज समय कितना ही बदल गया है, जीवन की परिस्थितियाँ बदल गयी हैं किन्तु ये निबन्ध आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। ऐसे स्थायी महत्त्व के विषयों पर लिखे गए निबन्ध उनके निबन्ध संग्रह –चिंतामणि के प्रथम भाग में संकलित हैं। कहना न होगा कि ये जीवन के स्थायी विषयों पर लिखे गए हैं। स्थायी विषयों से उनका मतलब मनुष्य जीवन से सम्बन्धित वे स्थायी भाव हैं जो मानवीय भावनाओं को व्यक्त करते हैं। ये ऐसे भाव हैं जो पृथ्वी पर रहने वाले मानव मात्र से सम्बन्धित हैं। वे चूंकि रस सिद्धांत को मानने वाले आलोचक थे और उन्होंने रस सिद्धांत को नया आधुनिक परिप्रेक्ष्य देने और उसी परिप्रेक्ष्य में उसको देखने का प्रयत्न किया था। इसलिए ये उस अभाव की पूर्ति भी करते हैं। एक रसशास्त्री और जीवनशास्त्री के ज्ञान के लिए भी ये विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं– शुक्ल जी मानते हैं कि अनभूति के दवंदव ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है। आदमी जब इस संसार में आता है तो उसके पास एक जोड़ी अनुभूति ही होती है। इसका सम्बन्ध सुख-दुःख से होता है। बालक का पेट भरा है तो सुखानुभूति और खाली है तो दूर द्य इसी से वह हंसता है और रोता है। आगे चलकर जीवन के विभिन्न सक्रिय जीवन क्षेत्रों में आकर जब ये अनुभूतियाँ विभिन्न विषयों के अनुसार प्रकट होती हैं तो 'भाव' कहलाती हैं, जिन्हें शुक्ल जी ने मनोविकार भी कहा है। ये भाव या मनोविकार ही है जो जीवन सम्बन्धों का निर्माण करते हैं और जिनसे सामाजिकता का निर्माण होता है। वे यह भी बतलाते हैं कि जीवन में सुख दुःख की सामान्य अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार जीवन में प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। कहना न होगा कि ये जीवन के स्थायी भाव हैं और सारा मनुष्य जीवन विधान इनसे ही परिचालित है। शुक्ल जी ने अपने निबन्ध साहित्य का केंद्र इन विषयों को बनाया है।

शुक्ल जी ने कहा है कि समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। कोई न कोई भाव ही होता है जो व्यक्ति को उसके अनुरूप कार्य में प्रवृत्त करता है। लोक की रक्षा और लोक के रंजन का काम भी भावों पर ही टिका हुआ है। इनका सदुपयोग भी होता है और दुरूपयोग भी। शुक्ल जी ने लिखा है कि जिस प्रकार लोक कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य मनोविकार काम में लाये गए हैं उसी प्रकार किसी सम्प्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विध ान की सफलता के लिए भी। शुक्ल जी ने अपने अनुभव के आधार पर लिखा है कि समाज के भीतर जितने भी तरह की शासन व्यवस्था है उसमें मनुष्य जाति के भय और लोभ जैसे मनोविकारों से काम लिया जाता है। राज्य सत्ता दंड के भय से और पुरस्कार के लोभ से अपना काम चलाती हैं। धर्म सत्ता

नोट्स

नरक का डर और स्वर्ग का प्रलोभन दिखाकर अपना काम करती देखी जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि मानव जीवन भावों की एक प्रक्रिया के अंतर्गत संचालित होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शुक्ल जी द्वारा उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध जैसे मनोविकारों पर जो निबन्ध लिखे गए हैं वे आज भी कई मायनों में दिशा निर्देशित करने वाले हैं। इनका सम्बन्ध जीवन के साथ साथ साहित्य से भी है, क्योंकि साहित्य भी मनोभावों की प्रक्रिया से संचालित होता है। इनके अलावा चिंतामणि एक और दो में जो निबन्ध संकलित हैं उनका उद्देश्य कविता की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना करना है। इस आधार पर उनको आलोचनात्मक निबन्ध कहा जा सकता है, लेकिन नबन्ध की कसौटी पर जब उनको लाकर परखते हैं तो वे आलोचना के अंतर्गत ही अपनी जगह बनाते हैं, निबन्ध में नहीं।

भावों और मनोविकारों के अलावा भी शुक्ल जी ने समय समय पर अन्य जीवन-विषयों पर निबन्ध लिखे, जिनको चिंतामणि भाग तीन में संकलित किया गया है। मनोविकारों के अलावा उन्होंने उन व्यक्ति चरित्रों पर भी चरित्र व्यंजक निबन्ध लिखे, जिनसे वे किसी न किसी स्तर पर प्रभावित हुए थे। मसलन उनका एक निबन्ध "बाबू काशीनाथ खत्री" पर है, जिसमें वे उनकी इस बात के लिए प्रशंसा करते है कि वे कर्तव्य निष्ठा, सदाचार, तथा लोक हित का मार्ग ढूँढने के लिए ही अपनी लेखनी चलाते थे। एक निबन्ध फ्रेडरिक पिन्काट पर है। ये अंग्रेज होते गी थे। हिंदी के प्रति इनका अनुराग देखकर शुक्ल जी ने इनको अपने निबंध का विषय बनाया। शुक्ल जी ने एक निबन्ध भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी विषय को लेकर लिखा, जिसमें उन्होंने बतलाया है कि इन्होंने हिंदी भाषा और उसके साहित्य को नए नए भावों और विचारों से जोड़ने का काम किया। सबसे बड़ा काम इन्होंने साहित्य के माध्यम से स्वजाति प्रेम, स्वदेशाभिमान और समाज सुधार का किया, जिसकी शक्ल जी ने खले दिल से प्रशंसा की है। उनका एक निबन्ध "क्षात्र धर्म का सौन्दर्य" जैसे विषय पर है, जिसमें उन्होंने व्यक्ति के कर्म क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसके भीतर लोक रक्षा की प्रवृत्ति को खासतौर से रेखांकित किया है। शुक्ल जी का एक निबन्ध 'प्रेमघन की छाया स्मृति' विषय के बहाने उनका आत्मकथात्मक निबन्ध है।

4.14 निबन्ध साहित्य की परिस्थितियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लेखन का समय बीसवीं सदी के आरम्भ से उनके देहावसान 1941 तक रहा है। इस अवधि में विश्व स्तर पर पहला महायुद्ध हो चुका था और भारत में अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध लिन चल रहा था। इस आन्दोलन के चलते हिंदी भाषा और साहित्य दोनों में बुनियादी परिवर्तन हो रहे थे। शुक्ल जी ने इसके इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ, उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। इसी खड़ी बोली के हिंदी साहित्य और भाषा की समृद्धि के लिए शुक्ल जी जैसे चिंतक लेखकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शुक्ल जी इस बात से अपनी असहमति प्रकट करते हैं कि अंग्रेजी साहित्य के संपर्क से हिंदी में खड़ी बोली साहित्य की रचना शुरू हुई। वे इस स्थापना का खंडन करते हुए कहते हैं

नोट्स

कि यह कहना ठीक नहीं है। हुआ दरअसल यह कि जब अठारहवीं सदी में दिल्ली की केन्द्रीय मुगल सता का पतन हुआ तो उस समय के व्यापारी जीविका के लिए देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैल गए। तब इनके बीच की भाषा खड़ी बोली देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गयी। उसी समय से उसमें लोगों का ध्यान गय लिखने की ओर गया। गद्य लेखन के माध्यम से तत्कालीन लेखकों ने हिंदी भाषा को आधुनिक बोध और नवीन ज्ञान से समृद्ध किया। यह नवीन ज्ञान जहाँ एक ओर अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से आया, वहीं दूसरी ओर उनकी औपनिवेशिक सत्ता द्वारा किये जा रहे शोषण –उत्पीडन के विरुद्ध जो मुक्ति चेतना और उसकी आकांक्षा भारतीयों के मन में पैदा हो रही थी, उसके फलस्वरुप नयी चेतना और विवेक से संपन्न करते हुए हिंदी के गद्य साहित्य को विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। शुक्ल जी ने लिखा है कि उस समय चलने वाले विभिन सामाजिक –राजनीतिक आन्दोलनों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा था, जिससे साहित्य तरह तरह के नवीन विचारों को अपने भीतर समाहित कर रहा था। इसके परिणामस्वरुप शुक्ल जी ने स्वयं निबन्ध और आलोचना जैसी विधाओं में बुनियादी और महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

4.15 निबन्ध की विशेषताएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध साहित्य अन्य निबंधकारों से कुछ अलग तरह का है। उसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं। वह एक तरफ अपनी परम्परा से जुड़ता है तो दूसरी तरफ उसमें नवीन भावों और विचारों को लाने और उनको स्थापित करने का सजग प्रयास मिलता है। वे पिछले साहित्य की उन रूढ़ियों से टकराते हैं, जो साहित्य की प्रगति में अवरोधक बनकर आती हैं। शुक्ल जी अपने समय की इस बात से वाकिफ हैं और इसके प्रति सजग भी कि निबन्ध साहित्य का सृजन जीवन से सम्बन्धित स्थायी विषयों पर वैसे ही होना चाहिए जैसे कहानी, उपन्यास, कविता आदि का होता है। सच तो यह है कि वे आलोचना के रूप में लिखे गए निबन्धों को सृजनात्मक निबन्ध की कोटि का नहीं मानते। वे स्थायी विषयों पर लिखे निबन्ध साहित्य को ही विशुद्ध निबन्ध की कोटि में रखते हैं। जब वे द्विवेदी युग में लिखे गए निबन्ध साहित्य पर विचार करते हैं तो उस क्रम में वे यह कहने से नहीं चूकते कि द्विवेदी युग में आकर स्थायी विषयों पर निबन्ध लिखने की परम्परा बहत जल्दी बंद हो गयी। इस दवितीय उत्थान के भीतर उत्तरोत्तर उच्च कोटि के स्थायी गद्य साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था, वैसा न हुआ। उन्ही के शब्दों में– अधिकांश लेखक ऐसे ही कामों में लगे जिनमें बुद्धि को श्रम कम पड़े। शुक्ल जी दरअसल ऐसे निबन्ध साहित्य के कायल थे, जिसमें जीवन का रंग हो। साथ ही सामाजिक सजीवता भी हो जैसी कि भारतेंदु युग के निबन्ध साहित्य में उनको नजर आती है और वे उसका बार बार उदाहरण भी देते हैं। वे ऐसे निबन्ध साहित्य की कल्पना करते हैं जिसमें लेखकों के अन्तःप्रयास से निकली विचारधारा हो। वे उस निबन्ध साहित्य की आकांक्षा करते हैं जिसमें विचारों की ऐसी गूढ़ गुम्फित परम्परा हो, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। वे ऐसे विचारात्मक निबन्ध लिखने के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हैं जहाँ एक एक पेराग्राफ में विचार दबा दबा कर कसे गए हों और उसका एक एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खंड को लिए हुए हो। वे उन निबन्धों को साहित्यिक कोटि का मानते हैं, जिनमें भाषा के नूतन शक्तिचमत्कार के साथ नए नए विचारों की उद्भावना पायी जाती हो।

नोट्स

सच बात तो यह है कि शुक्ल जी की दृष्टि में उस समय का निबन्ध साहित्य भाषा की नूतन शक्ति के साथ नए नए विचारों की उद्भावना करने वाला नहीं बन पाया था। कहना न होगा कि इसी अभाव की पूर्ति के लिए शुक्ल जी ने नए नए विचारों की गूढ़ गम्फित परम्परा वाले निबन्ध साहित्य का सृजन किया, जिसमें उनके व्यक्तित्त्व की छाप साफतौर पर देखी जा सकती है।

4.16 निबंधकार शुक्ल जी का वैशिष्ट्य

शुक्ल जी ने निबन्ध के क्षेत्र में जो काम किया है वैसा उनके युग में शायद ही किसी दूसरे निबंधकार ने किया हो। जैसा कि वे निबन्ध के बारे में सोचते थे उसी के अनुरूप उन्होंने अपनी व्यक्तिगत विशेषता को बनाए रखते हुए भाषा की नूतन शक्ति के साथ विचारों की गूढ़ गुम्फित परम्परा वाला निबन्ध साहित्य सृजित किया जिसमें एक ओर जीवन का रंग है तो दूसरी ओर सामाजिक सजीवता है। भावों या मनोविकारों पर लिखे उनके किसी भी निबन्ध को उठा लीजिये उसमें विचारों की गढ़ गम्फित परम्परा के साथ जीवन का कोई न कोई रंग अवश्य मिलेगा। मसलन, "उत्साह " जैसे मनोभाव के बारे में विचार करते हुए जब वे बतलाते हैं कि किसी काम को करते हुए जब फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न हो जाती है तो कम से कम कर्म में ज्यादा से ज्यादा लाभ पाने की प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है। चित्त में यही आता है कि काम बहुत सरल और कम करना पड़े और फल बहत सा मिल जाये। यद्यपि यहाँ शुक्ल जी ने उत्साह जैसे स्थायी भाव के भीतर कर्म और फल के सम्बन्ध का सैद्धांतिक निरूपण किया है, किन्तु वे इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध भारतवासियों से जोड़कर इसमें जीवन का रंग भर देते हैं। चूंकि उनका रिश्ता भारतवासियों से है और वे उन भारतवासियों के लिए लिख रहे थे जो उस समय खासतौर से अपनी रूढ़ियों से मुक्त होने के साथ साथ आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे। शुक्ल जी ने यहाँ श्री कृष्ण द्वारा गीता में दिए गए फल में अनासक्ति वाले सन्देश का उल्लेख करते हुए यह लिखा है कि श्रीकृष्ण द्वारा कर्म मार्ग में फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदास हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गर्मी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान करके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या क्या चाहने लगे। यही वजह रही है कि हमारे यहाँ व्यक्ति की कर्म में प्रवृत्ति कम रही है। आज भी इस प्रवृत्ति से मुक्त होना तो दूर की बात है, यह तेजी से बढ़ती गयी है। फल में जब किसी भी समाज या व्यक्ति की विशेष आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है तो वह कर्मवादी की बजाये भाग्यवादी बन जाता है। कहना न होगा कि शुक्ल जी के इस तरह के अन्य सारे निबन्ध हमारे जीवन की उन बनियादी प्रवत्तियों को उदघाटित करते हैं, जिनसे जीवन का संचालन होता है। उनको विस्तार से पढने की आवश्यकता है और गंभीरता से मनन करते हुए उनको जीवन में उतारने की भी।

4.17 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध साहित्य

हम सब जानते हैं कि संसार में मनुष्य ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जो जीवन की तमाम जरूरतों के साथ अपने विचारों को भी वाणी प्रदान करने की प्रबल इच्छा रखता है। मन के इस भाव को क्रिया रूप देने

के लिए साहित्य या कला का सहारा लिया जाता है। निबंधकार रचनात्मक शैली के माध्यम से पाठक के बीच अपनी उपस्थिति कायम करता है। वह जटिल से जटिल विषय को अत्यंत सहज तरीके से अभिव्यक्त करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी क युग के श्रेष्ठ निबंधकार के रूप में माने जाते हैं इसका प्रधान कारण यह है कि इन्होंने अपने निबंधों का कैनवस काफी विस्तृत रखा है, अगर उनके समग्र निबंधों का अवलोकन करें तो अनेक शैलीगत विभिन्नता दिखाई पड़ती है। मसलन वे 'भारत वर्ष की सांस्कृतिक समस्या' से अपनी बात शुरू करते हैं और 'साहित्य की सम्प्रेषणीयता' को भी अपने विचार का लक्ष्य बनाने में नहीं हिचकते हैं। आर्य भट्ट से लेकर चाणक्य का भी संधान करते नजर आते हैं। उनके अंकन की यह विशेषता है कि वे अगर 'परम्परा और आधुनिकता को रेखांकित कर रहे होते हैं तो उन्हें तांत्रिकों की 'शव साधना' के रहस्य की भी जानकारी है। यहाँ इस बात के उल्लेख का एक मात्र आशय यह हैं कि हजारी प्रसाद दिवेदी हिंदी साहित्य के ऐसे चिन्तक हैं जिनके साहित्य में अपने मन मुताबिक सामग्री का अवगाहन किया जा सकता है। वे ऐसे निवंधकार हैं जिन्होंने अपनी विशिष्ट शैली के माध्यम से निबंध विधा को काफी गरिमा प्रदान करवायी है। उनके निबंधकार को देखने का प्रयास करें तो उनका निबंधकार रूप 'अशोक के फूल' की तरह रागाकुल, शिरीष के समान अवधूत, कुटज जैसा बीहड़ और मनमौजी तो है ही वह 'देवदारु' के सामान व्योमकेश भी है। वैसे उनकी रचनाओं की संख्या तो काफी है मसलन चार उपन्यास सत्रह शोध और आलोचना से सम्बंधित पस्तकें तथा 'अशोक के फल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'कटज', 'आलोक पर्व' तथा 'विचार प्रवाह' नामक छः निबंध संग्रह हैं ग्यारह खण्डों में उनकी रचनावली का प्रकाशन किया गया है। मुकुंद द्विवेदी ने उनके पत्रों का भी एक प्रमाणिक संग्रह तैयार किया है। देखा जाये तो द्विवेदी जी ने हिंदी में प्रचलित निवंध विधा को शिखर तक पहुँचाने का काम किया है। उनके संग्रह में संकलित निबंधों में हिंदी और संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति, भाषा, शोध, शिक्षा, प्राचीन इतिहास, धर्म दर्शन तंत्र ज्योतिष प्राकृत आदि विविध विषयों का समागम है।

नोट्स

4.18 आचार्य द्विवेदी के निबंधों में लालित्य तत्व

ललित निबंधकार का पहला गुण होता है कि वह प्रकृति से प्रेम करता है। वह अपने अवलोकन में प्रकृति को हमेशा साथ रखना चाहता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने निबंधों में प्रकृति को पर्याप्त सम्मान देते रहें हैं। 'शिरीष के फूल' निबंध के प्रारंभ में वह कहते हैं- "जहाँ बैठके लेख लिख रहा हूँ उसके आगे पीछे दायें-बायें शिरीष के अनेक पेड़ हैं। जेठ की जलती धूप में, जबकि धरित्री निधूम अग्निकुंड बनी हुई थी, शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लग गया था। कम फूल इस प्रकार की गर्मी में फूल सकने की हिम्मत करते हैं। कर्णिकार और अमलतास की बात मैं भूल नहीं रहा हूँ। वे भी आसपास बहुत हैं। लेकिन शिरीष के साथ आरग्वध की तुलना नहीं की जा सकती। वह पंद्रह-बीस दिन के लिए फूलता है, वसंत ऋतु के पलाश की भाँति। कबीरदास को इस तरह पंद्रह दिन के लिए लहक उठना पसंद नहीं था यह भी क्या कि दस दिन फले और फिर खंखड़ के खंखड़ - 'दिन दस' फूलन फूल के खंखड़ भया पलाश' ऐसे दुमदारों से लंपट ही भले। फूल है शिरीषद्य वसंत के आगमन के साथ महक उठता है आज शाम तक तो निश्चित रूप से मस्त बना रहता है। कहने का आशय यह है वे भावनाओं के प्रस्फुटन के लिए फक्कड़ बनाना ज्यादा रुचिकर समझते थे। कृष्णबिहारी मिश्र का मानना है कि 'द्विवेदी जी के यहाँ

नोट्स

अनुभूतियाँ अधिक हैं वे एक हद तक लिरिकल और रोमैंटिक भी हैं।' दरअसल द्विवेदी जी के यहाँ यह रोमांटिकता शन्तिनिकेतन में प्रस्फुटित हुई इनके लेखन के बारे में देखा जाये तो कोई योजना बद्ध लेखन नहीं मिलता है। कृष्ण बिहारी जी इसे वीणा की झंकार से संबोधित करते हैं उनका यह मानना हैं की द्विवेदी जी को कोई बात छू जाए बस उनकी प्रतिभा जागृत हो जाती थी और कलम उठाते ही बहुत सी बातें सहज फूटती चलती थी। बसंत द्विवेदी जी को अत्यंत प्रिय रहा है इस को लेकर उन्होंने अनेक निबंध लिखे हैं जैसे 'आम फिर बौरा गये', 'बसंत आ गया', 'आत्म दान का संदेश वाहक बसंत', 'प्राचीन भारत में मदनोत्सव'। आम फिर बौरा गये निबंध में आम्र मंजरी को हथेली पर रगड़ कर बिच्छ के जहर को बेअसर करने की तकनीक को याद करते हैं पुनः वह आम्रमंजरी और विच्छू की तुलना करते हुए कामदेव और शिव को उपस्थित करते हैं, और वह लोक के बेतुकेपन पर आश्चर्य भी प्रकट करते हैं। इसी के बहाने वे शास्त्र की पूरी परम्परा भी टटोल लेते हैं। 'वसंत आ गया है' यह निबंध उन्होंने बुखार के समय में लिखा था चूंकि द्विवेदी जी एक हंसमुख मिजाज व्यक्ति रहे हैं इस बीमारी में भी उनका यह स्वभाव दिखाई देता है। वह अपने और पड़ोसी के दरवाजे के पेड़ की तुलना करते हैं जो कि एक दिन ही लगाया गया लेकिन वह कमजोर रह गया जबकि इनका पेड़ काफी बड़ा हुआ लेकिन प्रकृति की बिडम्बना यह रही जो कमजोर वृक्ष था उसमें खूब फूल आते थे और इनके पेड़ पर कोई फूल नहीं। इस पर द्विवेदी जी कहते हैं 'कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती है' यह भी बताना चाहते हैं कि बसन्त आता नहीं है लाया जाता है अपनी मानसिक बनावट के आधार पर। इस प्रकार के तमाम उदाहरण द्विवेदी जी के निबंधों में हैं जहाँ प्रकृति एक नए रूप में दिखाई पड़ती है। इनके ललित निबंधों में गद्य काव्य जैसी भाषा शैली है, लालित्य है और भोजपुरी मुहावरों की उपस्थिति के साथ स्थानीयता सर्वत्र दिखाई पड़ती है।

4.19 आचार्य द्विवेदी के निबंधों में सांस्कृतिक तत्व

आचार्य द्विवेदी जी के निबंधों में संस्कृति तो सर्वत्र व्याप्त है ही विशेषतः 'ठाकुर जी की बटोर', 'भारत की एक्य साधनाः साहित्य के क्षेत्र में', 'भारतीय संस्कृति और हिंदी का प्राचीन साहित्य', 'सभ्यता और संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति की देन, भारतीय संस्कृति का स्वरूप, संस्कृति और साहित्य, भारतीय संस्कृति, संस्कृतियों का संगम तथा भारतीय मेले, अशोक के फूल, ठाकुर जी की बटोर तथा हिमालय आदि निबंधों में देखे जा सकते हैं। अपने निबंधों के माध्यम से द्विवेदी जी संस्कृति को व्यापक धरातल पर देखना चाहते हैं और वह कहते भी हैं 'मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान मानव संस्कृति हो सकती है।' अर्थात वह एक संस्कृति के मानने के हिमायती रहे हैं। उनका यह मत है की मनुष्य की जितनी भी श्रेष्ठ साधनाएं हैं वह सभी संस्कृति का अंग हैं लेकिन दुर्भाग्य यह है की मनुष्य अभी इसके रूप को देख नहीं सका है। अफसोस यह है जब तक इस बारे में वह सचेत होगा तब तक बहत देर हो चुकी होगी। मनुष्य की इच्छा रहती है कि वह जो भी करे वह अनूठा हो इसी को कबीर अपने तरीके से भी कहते हैं- ऐसा लो नहीं तैसा लो, मैं कोहि विधि कहो अनूठा लो। इस सन्दर्भ को द्विवेदी जी अलग ढंग से व्याख्यायित करते हैं उनका यह मानना है कि मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी बहुत कुछ ऐसी ही अनूठी वस्तु है। मनुष्य ने उसे अभी तक सम्पूर्णता में ग्रहण नहीं किया है लेकिन उसकी यह अभिलाषा है कि वह उसे

नोट्स

ग्रहण कर ले और इसी इच्छा के लिए वह भयानक मार-काट के लिए तैयार रहता है प्रथम दृष्टया तो यह आश्चर्य लगता है पर है सत्य। 'साहित्य और संस्कृति' नामक निबंध में वे कहते हैं कि इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि 'वैदिक युग से लेकर निरंतर समन्वय की चेष्टा करना भारतीय संस्कृति का इतिहास रहा है। कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य प्रधान अध्यात्मवादी आर्येतर का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी शीघ्रता के साथ मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर समन्वय कर लिया। आर्यों का स्वर्ग और आर्येतरों का मोक्ष तथा पुनर्जन्म-सिद्धांत संस्कृति में दूध और चीनी की तरह मिल गये। कबीर, नानक, दादू, अकबर, राममोहन राय आदि का प्रयत्न समन्वय का प्रयत्न थाश। दर असल इस उद्धरण के माध्यम से द्विवेदी जी इस बात की ओर इशारा करना चाह रहे हैं कि हमारी संस्कृति एक सामासिक संस्कृति थी बाद में यांत्रिक राष्ट्रीयता वालों ने हमारी राष्ट्रीयता को नये ढंग से परिभाषित करने और कराने का काम शुरू कर दिया जिससे हमारी संस्कृति तो बहुत अधिक प्रभावित नहीं हो सकी लेकिन कुछ सवाल जरूर उठने लगे। इसमें कोई दो हों की द्विवेदी जी का सांस्कतिक विचार पूर्णतः मानवतावादी रहा है जो कि इनके निबंधों में भी झलकता है। द्विवेदी जी असली भारतीय संस्कृति उसे मानते हैं जो मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित कर सके। यहाँ इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि द्विवेदी जी रूढ़ियों की मृत परम्पराओं को स्वीकार करने के पक्षधर नहीं थे लेकिन आधुनिकता के अतिउत्साह में उन मूल्यों के परित्याग के भी पक्ष में नहीं थे जिन मूल्यों के सम्पादन में कई पीढियां लग गयी हैं। इस सन्दर्भ में वे कहते थे- पुरानी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ। परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ अभ्यास के गुण हैं और दीर्घ अभ्यास से ही पाए जाते हैं। 'ठाकुरजी की बटोर' द्विवेदी जी का बहुत अद्भुत निबंध है जिसमें वे जाति-पांति की संकीर्णताओं को भारतीय संस्कृति मानने के हिमायती नहीं दिखाई पड़ते हैं यहाँ यह देखना ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं कि वे अपने ठाकुर वाड़ी की समस्या को किस प्रकार वैश्विक समस्या बनाकर पेश करते हैं, वे कहते हैं- जो ठाकुर जाति विशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य-चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान हीन और पतितों के भगवान हैं, धर्म और सम्प्रदाय के ऊपर के भगवान हैं, वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं, और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण-चंडाल सबको पूज्य बना सकते हैं। इसी प्रकार अशोक के फूल में भी वे पंडिताई को बोझ मानते हुए कहते हैं- पंडिताई भी एक बोझ है-जितनी भारी होती है उतनी तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' शीर्षक निबंध उनका अद्भुत निबंध है उस निबंध के बहाने वह यह स्थापित करना चाहते हैं कि नाखून का बढ़ना पशुता की निशानी है पहले नाखून उसके हथियार थे पर आज वह उसकी बर्बरता की याद दिलाते हैं तुम पहले कितने बर्बर थे। यद्यपि आज मनुष्य नाखून काट कर अपनी बर्बरता को छिपाने का प्रयास कर रहा है पर शायद वह आज ज्यादा बर्बर और क्रूर हो गया है इस समय जब पूरा विश्व परमाणु के भयानक ढेर पर खड़ा है उस समय वह नाखून के माध्यम से अपनी बर्बरता छिपाने का प्रयास कर रहा है लेकिन द्विवेदी जी का यह मानना है कि मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती। लेकिन हम यह प्रयास जरूर करें कि नाखून के बहाने जिस पशुता का विकास हमारे अंदर हो रहा है, उसे हम होने नहीं देंगे।

नोट्स

4.20 आचार्य द्विवेदी के निबंधों में जीवटता

द्विवेदी जी के निबंधों में जीवटता का संदर्भ आते ही हमारे सामने जो निबंध उपस्थित होते हैं उनमें 'अशोक के फूल', 'कुटज', 'देवदारु', 'आत्मदान का सन्देश वाहक बसंत', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारी प्रसाद द्विवेदी', 'हिमालय' और 'ठाकुरजी की बटोर' हैं इसमें कुछ निबंधों की चर्चा अन्य संदर्भों में की जा सकती है और हुई भी है। 'अशोक के फूल' पर विचार करते हुए द्विवेदी जी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापनाएं देते हैं कि- 'स्वर्गीय वस्तुएं धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं, दरअसल यह वाक्यांश इस बात का प्रमाण हैं की सारी सुन्दरता यहीं है वायवीय नहीं है। अशोक के बहाने वह पूरी सामन्ती व्यवस्था पर प्रहार करते हैं– अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो इतना भी रहस्यमय हो जितना भी अलंकारमय हो परंतु है उस विशाल सामंती सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक है जो साधारण प्रजा के परिश्रम पर पली थी उसके रक्त के स– सार कडों को खाकर बड़ी हुई थी लाखों करोड़ों की उपेक्षा से समृद्धि थी वे सामंत उखड़ गए समाज ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई संतान कामिनियों को गंधर्वो से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा। पीरों ने भूत-भैरवों ने काली दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली अशोक पीछे छूट गया।' यहां पर द्विवेदी जी यह बताना चाहते हैं कि अशोक के अंदर कितनी दुर्दम इच्छा थी और वह हजारों वर्षों से मनुष्य के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रहा था यह देखा जाए तो मनुष्य की जीवनी शक्ति ने उसे नई चेतनता प्रदान की है। कई बार द्विवेदी पंडिताई को भी बोझ मानने लगते थे अर्थात जो ओढ़ी हुई संस्कृति है वह संस्कृति बोझ बन ही जाती है। द्विवेदी जी बरबस कहते थे- 'पंडिताई भी एक बोझ है जितनी भारी होती है उतनी ही तेजी से डूबती है। यहां भारी होने का आशय है जब बाहरी दिखावा तथा ढकोसलेबाजी दर्शन का ही संस्कृति और जीवन का अंग बन जाता है तो उसके अंदर की सहजता समाप्त होती है। इस निबंध में भी द्विवेदी जी की जीवटता का अद्भुत नमूना दिखाई पड़ता है। द्विवेदी जी का एक और बहुत महत्त्वपूर्ण निबंध है 'कुटज' जिसमें वे कुटज शब्द की उत्पत्ति पर भी विचार करते हैं और कहते हैं कि कुटज का अर्थ होता है कुट से पैदा होना। अर्थात जिस की उत्पत्ति घड़े से हुई हो उसे कुटज माना जाता है लेकिन इसी निबंध में वे कुटज के जीवट स्वभाव का भी वर्णन करते हैं। वह मानते हैं कि- जो दिखने में ठिगने से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खाकर भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सह कर भी जी रहे हैं उन्हें क्या कहूं? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं बल्कि हंस रहे हैं कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं उनकी जड़े काफी गहरी बैठी होती हैं यह पाषाण की छाती फाड़ कर न जाने किस अतल गहवर से अपना भोग्य खींच लेते हैं।

द्विवेदी जी ने कटज की विशेषता और जीवटता को रेखांकित करते हुए कहा है कि वह दूसरे के द्वार पर भीख मांगने नहीं जाता कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता नीति और धर्म का उपदेश देता नहीं फिरता अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता दूसरों को अपमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता आत्मोन्नति के लिए नीलम नहीं धारण करता अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता दांत नहीं निकालता बगले नहीं झांकता। जीता है और शान से जीता है– वास्ते किस उद्देश्य से कोई नहीं जानता। दरअसल कुटज की अपनी विशेषता है उसकी अपनी जीवटता है क्योंकि वह अपने मन की सवारी करता है मन पर किसी को सवार नहीं होने देता मन पर सवार न होने देना द्विवेदी जी का

एक बड़ा संदेश है यह सब के लिए है कि अपने मन पर किसी और को सवार नहीं होने देना चाहिए।

नोट्स

हिंदी निबंध साहित्य में द्विवेदी जी का स्थान

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे निबंधकार है जिन्होंने हिंदी निबंध को एक नई ऊंचाई प्रदान की हैं। द्विवेदी जी के निबंध प्राचीन इतिहास और संस्कृति से परिचय करवाने में सहभागी दिखाई देते हैं। इनके निबंधों में गद्य का सहज प्रभाव दिखाई पड़ता है।

4.21 ललित निबंध की विकास यात्रा

ललित निबंध लेखन का प्रारंभ भारतेन्दु युग में ही हो चुका था। स्वयं भारतेन्दु जी के अनेक निबंधों में विनोद और लालित्य के दर्शन होते हैं। द्विवेदी युग में यह परम्परा बहुत उन्नति तो नहीं कर सकी लेकिन माधव प्रसाद मिश्र, रायकृष्ण दास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि विद्वानों के निबंधों में इसकी झलक अवश्य मिल जाती है। शुक्लयुग के अधिकांश निबंधकारों ने व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ इन दोनों प्रकार के निबंधों की रचना की। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आगमन के बाद ललित निबंधों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ और यह धारा प्रबल बन कर उभरी। इस काल के दूसरे साहित्यकारों ने भी अन्य विधाओं के साथ-साथ ललित निबंधों की रचना की। इसी धारा में पं. विद्यानिवास मिश्र की पहचान मूल रूप से ललित निबंध कार के रूप में बनी। मिश्र जी के बाद ललित निबंध के क्षेत्र में एक रिक्तता दिखाई दे रही है। वैसे तो इस परम्परा में डॉ. विवेकीराय, कृष्णबिहारी मिश्र, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी और श्रीराम परिहार आदि विद्वान लेखन कार्य कर रहे हैं लेकिन, इतना तो कहा ही जा सकता है कि पं. विद्यानिवास मिश्र जी के चले जाने के बाद ललित निबंध वाली गंभीरता और उस विद्वतापूर्ण लेखन की कमी वर्तमान का हिंदी जगत महसूस कर रहा है।

4.22 पं. विद्यानिवास मिश्र का व्यक्तित्व एवं उनका साहित्य संसार

व्यक्तित्व

पं. विद्यानिवास मिश्र का जन्म 14 जनवरी, 1926 को उत्तर प्रदेश में गोरखपुर जिला के पकड़डीहा नामक गाँव में हुआ था। विद्यानिवास जी की प्रारंभिक शिक्षा घर पर और पड़ोसी गाँव विशनपरा के प्राथमिक विद्यालय में हुई। माध्यमिक शिक्षा के लिए विद्यानिवास जी गोरखपुर गए और उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में नामांकन कराये। सन् 1945 में वहीं से एम.ए. की परीक्षा संस्कृत में पास की और वहीं से 'पाणिनी की विश्लेषण पद्धति' पर उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई।

पंडित जी प्रकृतितः एक अध्यापक थे इसलिए सूचना विभाग, लखनऊ के उपनिदेशक पद से त्यागपत्र देकर गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत तथा भाषाविज्ञान विभाग से जुड़ गये और बाद में संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, आगरा विश्वविद्यालय के कन्हैयालाल मुंशी हिंदी तथा भाषा विज्ञान विभाग और अनेक विदेशी विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने के उपरांत वे काशी विद्यापीठ और सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहे।

शैक्षिक कार्यों से अवकाश प्राप्त करने के बाद पं. विद्यानिवास मिश्र ने प्रसिद्ध राष्ट्रीय समाचार

नोट्स

पत्र नवभारत टाइम्स-दिल्ली के प्रधान सम्पादक के रूप में कार्य करते हुए अपनी कुशल पत्रकारिता का परिचय भी दिया। मिश्र जी के श्रेष्ठ साहित्यिक योगदान के लिए ही उन्हें सरकार द्वारा 'पद्म श्री' सम्मान, उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'महाभारत का काव्यार्थ' के लिए 'मूर्तिदेवी' पुरस्कार और बाद में भारत सरकार द्वारा राज्यसभा का सदस्य भी मनोनीत किया गया तथा 'पद्मभूषण' सम्मान से अलंकृत किया गया। अपनी हर साँस में हिन्दी का विकास चाहने वाले पं. विद्यानिवास मिश्र 14 फरवरी, 2005 को किसी साहित्यिक आयोजन से जब वाराणसी लौट रहे थे उसी समय आजमगढ़ के पास कार दुर्घटना में उनका देहांत हो गया और हिंदी जगत का एक देदीप्यमान नक्षत्र सदा-सदा के लिए अस्त हो गया। आज मिश्र जी हमारे बीच उपस्थित नहीं हैं लेकिन उनकी रचनायें हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि बनी हुई हैं और उनकी जीवन्तता एवं उनके महाप्राणत्व का परिचय दे रही हैं।

पं. विद्यानिवास मिश्र का साहित्य संसार

निबंध लेखन, सम्पादन कार्य, अनुवाद, व्याख्यान और काव्य संग्रह - पानी की पुकार आदि उनके द्वारा सृजित पुस्तकों की संख्या सौ से ऊपर है। साहित्य अमृत मासिक पत्रिका का संपादन भी उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिनों तक किया।

4.23 पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का प्रतिपाद्य

पं. विद्यानिवास मिश्र का निबंध साहित्य भारतीय तथा विश्वमानव की संवेदना से पोषित है, इसलिए सामाजिक गतिविधियाँ ही उनके साहित्य की धड़कन हैं। उनके निबंधों की यात्रा परम्परा से प्रारंभ होकर वर्तमान की आधुनिकता तक पहुँचती है और लेखक सर्वत्र सजग दिखाई देता है। अपनी भारतीयता के प्रति उनमें विशेष लगाव है। अपने संस्कारों को विद्यानिवास जी सभी परिस्थितियों में जीवन का आवश्यक अंग मानते थे। मिश्र जी के साहित्य में बूंद-बूँद से सागर के निर्माण का आभास होता है। यहाँ भूगोल की सीमाओं से परे मनुष्य के महाभाव को उसकी मिट्टी पर खड़ा करने की मनुहार है। वृन्दावन में कण्डी बीनते हुए बालक की सहज रागिनी है, जो मुरलीधर की मुरली का सुर बनकर निबंधकार के हृदय को स्पंदित करती है। उनके इन्हीं भावों को परिलक्षित करते हुए डॉ. गिरीश्वर मिश्र जी लिखते हैं कि- "पंडित जी के निकट रहने वाले लोग उनके सजग, बेचैन और दायित्व के प्रति लगाव से कभी कभी आतंकित भी हो जाते हैं, परंतु वह उनका स्वभाव बन गया है। इस स्वभाव में जुड़ने का, सबसे जुड़ने का और संबंधों को जीने का दबाव बना रहता है। इन दबावों में पीड़ा, हास, परिहास, सुख - सभी भाव शामिल रहते हैं। घर, गाँव, नगर, महानगर, देश, विदेश की बहुरंगी और विविधापूर्ण जिंदगी में रचे-बसे समृद्ध - अनुभव जगत् ने मिश्र जी को एक उन्मक्त, मगर अनशासित दृष्टि से संवलित किया है, जो उन्हें असंपृक्त संलग्नता की शक्ति देती है। निजी छोटी घटनाओं, अनुभूतियों से लेकर पर्यावरण, संस्कृति, मूल्य, दार्शनिक प्रश्न, प्रतीकों और परंपरा से जुड़े उनके लेखों में आंतरिक और बाह्य जगत् की यात्रा करते हुए पाठक को लेखक के साथ आत्मीय रिश्ते से अनुस्यूत संवाद का सुख मिलता है। इनका लालित्य किसी मधुर वाद्ययंत्र से उठने वाले सुर, लय और ताल की तरह बाँधने वाला होता है।" संस्कृति, राजनीति, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि समाज के सभी पक्ष उनके निबंधों के प्रमुख अंग हैं। जिन्हें निम्नलिखित संदर्भों के अंतर्गत देखा जा सकता है-

सामाजिक संदर्भ

मिश्र जी ने निबंधों में अपने परिवेश और समसामयिकता को कभी नहीं छोड़ा। एक तरफ गाँव का मजदूर, किसान, खेती-बाड़ी, मिट्टी-कुम्भकार, नाविक, चरवाहा है, उसकी दैनिक क्रियायें-प्रतिक्रियायें हैं, उसकी गरीबी, मेहनत और सुख-दुख है तो दूसरी तरफ गाँवों से लेकर महानगरों तक पैर फैलाती पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भी वर्णित है। अपने प्रथम निबंध संग्रह 'छितवन की छांह' में वह लिखते हैं कि– "देहातों में वन-महोत्सव की तीसरी वर्षी गुजर जाने के बाद भी इंधन की समस्या हल करने के लिए अरहर ही काम आ रही है, जो माघ का जाड़ा खेपाने के साथ ही खप जाती है, इसलिए विधिवत रसोई का संरजाम नहीं हो पाता। कचरस और मटर की छीमी पर ही दिन कटते हैं, फागुन चढ़ते-चढ़ते होरहा के रूप में भुने अन्न का सुअवसर प्राप्त हो जाता है।"

उक्त पंक्तियाँ इस बात की परिचायक हैं कि मिश्र जी जिस वातावरण में रहते थे उसकी हर धड़कन को पहचानते – समझते थे। उसका यथार्थ अनुभव उन्हें था और यही बातें उनके निबंधों को सामान्य जनता के दुख-दर्द के काफी करीब ले जाती हैं। भारतीय समाज पर पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव को मिश्र जी चार दिन की चाँदनी मानते हैं। उनके अनसार हर आदमी अपने यांत्रिक जाल में फँसता जा रहा है, पूर्णतः एकाकी बनता जा रहा है। ऐसा विकास जो समाज से शांति, प्रेम और सहयोग को मिटा दे तथा जो मानवीय रिश्तों को छिन्न-भिन्न कर दे उसे मिश्र जी अभिशाप मानते हैं। नारी को मिश्र जी के निबंधों में सर्वत्र पूजनीय बताया गया है। उनके अनुसार नारी हमारे समाज के रीढ़ की हड्डी है जो सभी रिश्तों के केंद्र में रहती है, वह त्याग की प्रतिमूर्ति है। सुंदर समाज के निर्माण हेतु रिश्तों की स्थिरता पर जोर देते हैं और पीढ़ीगत मतभेदों को खतरा बताते हैं। आधुनिकता के नाम पर बढ़ती स्वच्छंदता और मर्यादाहीनता उन्हें कदापि स्वीकार नहीं थी। आधुनिकता के नाम पर समाज में फैलती अनैतिकता, लोलुपता और यांत्रिकता आदि पर मिश्र जी ने अपने व्यंग्यात्मक निबंधों के माध्यम से करारी चोट की है।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि पं. विद्यानिवास मिश्र ने अपने निबंधों में समाज के संदर्भ में जो मंतव्य रखे वह उस स्वच्छ और आधुनिक समाज की परिकल्पना है जहाँ हवाई जहाज की सीट पर बैठकर और अपने हाथों में अति आधुनिक लेपटॉप लेकर भी अपने संस्कारों का सम्मान किया जा सकता है। अपनी जड़ों से कटकर हम कभी भी एक सुंदर समाज की परिकल्पना नहीं कर सकते। स्वयं मिश्र जी उन संस्कारों को अंगीकृत करके भी आजीवन देश-विदेश की यात्रायें करते रहे।

सांस्कृतिक संदर्भ

भारतीय संस्कृति मिश्र जी के निबंधों का प्राण तत्व रही है। वह संस्कृति के निर्माण में व्यक्ति और समाज दोनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। वर्तमान में भारतीय संस्कृति पर मंडराते खतरे के प्रति भी सजग दिखाई देते हैं और अपनी लेखनी पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव को स्वीकारते हुए लिखते हैं कि– "मैं अपने को माध्यम मानता हूँ, एक ऐसी प्राणवान संस्कृति का जो चक्की के दो पाटों के बीच पड़े दाने की तरह छटपटा रही है, वह दोनों के अंतर से निकलना चाहती है, पर निकल नहीं पाती, क्योंकि दोनों पाटों के बीच एक कील ठुकी हुई है, वह कील है, उस तकनीकी वैभव की शक्ति की जो संस्कृतियों की खरीदार हुई है।" संस्कृति उनके लिए एक प्रकार की सकारात्मक परिणति है। वह संस्कृति को जड़,

नोट्स

स्थिर नहीं मानते बल्कि उसमें समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन को स्वीकार करते हैं।

यही गतिशीलता उनके परंपरा संबंधी निबंधों में भी दिखाई देती है। मिश्र जी के अनुसार परंपरा निरंतर विकास की तरफ ले जाती है। वह कोई बंधन नहीं, कोई रूढ़ि नहीं जो विकास के पैरों में चक्की की तरह बँधी हो। वह पर से अपर – एक के बाद दूसरे की, नित नए की बात करती है। वह आधुनिकता से केवल तकरार ही नहीं करती बल्कि दोनो सहयात्री की भाँति जब मानव जीवन की यात्रा में सहभागी बनती हैं तो वहीं जीवन की सार्थकता दिखाई देती है। यहाँ तक कि मिश्र जी ने अपने निबंधों में उन रूढ़ियों का भी समर्थन किया है जो हमारे मार्ग में बाधक नहीं बनती हैं। लेकिन संस्कृति के नाम पर ढोंग और दिखावेपन का मिश्र जी जोरदार विरोध करते हैं और मन से भारतीय होने का समर्थन करते हैं। इस प्रकार समन्वयवादी संस्कृति का समर्थन मिश्र जी के निबंधों में किया गया।

धार्मिक संदर्भ

मिश्र जी के निबंधों में धर्म की व्यापक चर्चा हुई है। धर्म के प्रति पंडित जी की गहरी आस्था थी। बेझिझक वह अपने को कट्टर सनातन धर्मी कहा करते थे। लेकिन, वह धर्म किसी चहारदीवारी में घिरा रहने वाला नहीं, किसी वर्ग या सम्प्रदाय विशेष की बात करने वाला भी नहीं बल्कि समस्त बंधनों से मुक्त करने वाला और जगत् का कल्याण चाहने वाला धर्म है। उनके लिए धर्म का अर्थ है जो धारण करता हो, जो समस्त व्यापार का सामंजस्य अथवा समंजन हो। इसलिए धर्म व्यक्ति, समाज और प्रकृति सबको अपने भीतर समाविष्ट करता है। धर्म केवल आचार मात्र नहीं है, वह आचार का नियामक और प्रेरक भी है, साथ ही वही सदाचार की कसौटी भी है। "धर्म न जाति है, न मंदिर या सम्प्रदाय, न मत, न वेष, न टीका वह जीवन का जागृत भाव है, उसकी सधी ऐसी साँस जो वीणा के तार की तरह राग विशेष में बँधी हो और साथ ही व्यक्ति के बंधन से है।" अपने मिश्र जी ने मतान्धता को धर्म का दुश्मन बताया है जिसने आज धर्म को हीन बना दिया है। समाज में बढ़ती हिंसा, दुराचार, आपसी वैमनस्य आदि के पीछे भी इसी मतान्धता का हाथ है। उन्होंने अपने कर्तव्य को भी धर्म माना और कर्तव्य से विमुख होने को धर्म से ही विमुख होना।

धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरों से मिश्र जी दुखी थे। यही कारण है कि अपने व्यंग्यात्मक निबंधों में उन्होंने धार्मिक आडम्बरों की बखिया उधेड़ी है। मिश्र जी ने तीर्थ, व्रत, उत्सव आदि पर अनेक निबंधों की रचना की है। इन सब धार्मिक भावनाओं के पीछे वह लोक कल्याण की बात कहते हैं। इन आयोजनों को अपने निबंधों में उन्होंने वह साधन माना है जो आदमी को आदमी के करीब ले आता है, जो राष्ट्रीय एकता की भावना जगाता है और साथ ही आत्मिक सुख की परिपुष्टि करता है। उनका धर्म वह है जिसमें क्षमाशीलता, त्याग, आत्मविश्वास आदि भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हैं। उनके अनुसार न्याय की रक्षा ही धर्म है। मिश्र जी के ऐसे निबंधों की संख्या व्यापक है जिनमें धर्म, देवी-देवता, तीर्थ-व्रत आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

राजनीतिक संदर्भ

व्यक्तिगत रूप से मिश्र जी कभी दलगत राजनीति से नहीं जुड़े लेकिन आदर्शों की प्रतिवद्धता उन्होंने अवश्य स्वीकार की जो उनके निबंधों में सर्वत्र परिलक्षित होती है। सत्तादल, विपक्ष तथा विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को उन्होंने पंचमुख परमेश्वर की संज्ञा प्रदान की। मिश्र जी ने अपने निबंधों में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और विषमता पर प्रकाश डालने के साथ-साथ विश्व की राजनीतिक विषमता को भी स्थान दिया है। चीन की विस्तारवादी नीति और अन्य विकसित देशों की दादागीरी की बातें भी इन निबंधों में देखी जा सकती हैं।

राजनीति के नाम पर धर्म, भाषा, क्षेत्र, अगड़ा-पिछड़ा आदि के नाम पर बँटवारे का विरोध मिश्र जी ने अपने निबंधों में किया है। विषमता फैलाने वाली राजनीति धीरे-धीरे शिक्षा, साहित्य और यहाँ तक कि ग्रामीण जीवन में भी अपना पैर फैलाती जा रही है जिसे मिश्र जी भविष्य के लिए खतरा मानते हैं। यहाँ यह कहना उचित होगा कि मिश्र जी ने केवल राजनीति को आधार बना कर अधिक निबंधों की रचना नहीं की, फिर भी देश, काल और वातावरण के कारण उनके निबंधों में राजनीतिक पक्ष भी आते रहे। उन्होंने राजनीतिक मूल्यों के निरन्तर ह्रास, सामान्य जनता की गं स्थिति, शोषक वर्ग का बढ़ता अत्याचार, विभिन्न 'वादों' का जन्म, राजनीतिज्ञों की दो बातें आदि ज्वलंत समस्याओं को अपने निबंधों में स्थान दिया है।

भाषिक संदर्भ

पं. विद्यानिवास मिश्र ने अपने निबंधों में भाषा के स्तर पर व्यापक लेखनी चलाई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भाषा से संबंधित समस्याओं, हिंदी भाषा की अवमानना, स्वतंत्र सरकार की भाषा संबंधी नीतियाँ, भाषा की अस्मिता और भाषा संबंधी समस्याओं का समाधान आदि विषयों को उन्होंने अपने निबंधों में स्थान दिया है। भाषा के नाम पर होने वाली राजनीति को उन्होंने इस देश के लिए दुर्भाग्य कहा। अपने निबंधों के माध्यम से उन्होंने शिक्षा का माध्यम हिंदी बनाने का समर्थन किया। हिंदी के विकास के लिए मिश्र जी ने हिंदीभाषी लोगों के मन से अपनी भाषा के प्रति हीन भावना त्याग कर उसके लिए संघर्ष की आवश्यकता पर जोर दिया।

विद्यानिवास जी ने अपने निबंधों में हिंदी भाषा के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का सम्यक विश्लेषण किया है। उन्होंने सांस्कृतिक, राजनीतिक और व्यावहारिक इन तीनों स्तरों पर भाषा की समस्या को उठाते हुए उसका उचित हल भी प्रस्तुत किया है। अन्य भारतीय भाषाओं के साथ मिलकर ही हिंदी का विकास संभव है और हिंदी के उचित विकास में ही भारतीयता के संरक्षण की संभावना दिखाई देती है। भाषा को लेकर मिश्र जी का गहन चिंतन बहुआयामी है। अपने निबंधों में वह हिंदी के विकास में ही देश और समाज के भविष्य को उज्ज्वल बताते हैं।

यात्रा वर्णन संबंधी निबंध

मिश्र जी का मन यायावरी था। वह प्रत्येक नई जगह को अच्छी तरह जान लेना चाहते थे। इसके मूल सांकृत्यायन जैसे यायावरी साहित्यकार के सान्निध्य का कुछ प्रभाव भी रहा और उनकी विलक्षण विद्वत्ता भी यात्राओं के अवसर समय-समय पर प्रदान करती रही। इन विभिन्न यात्राओं का वर्णन उनके अलग-अलग निबंध संग्रहों में मिलते हैं। साथ ही यात्राओं की यात्रा' निबंध संग्रह में संकलित कुल सत्ताइस निबंध उनके यात्रा वर्णन पर ही आधारित हैं। अपने इन निबंधों में लेखक ने धार्मिक तीर्थ स्थलों का वर्णन, वहाँ की

नोट्स

भाषा, संस्कृति, पर्यटन स्थलों की ऐतिहासिकता, सगे-संबंधी, मित्रों की चर्चा, लोगों की प्रकृति, खान-पान और कला आदि की चर्चा की है। इन यात्राओं के वर्णन के समय वहाँ के वातावरण, रहन-सहन की तुलना अन्य जगहों से भी करते रहे हैं। यहाँ तक कि धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासकता से संबंधित उन स्थानों का वर्णन भी उनके निबंधों में मिलता है जो अब तक उपेक्षित रहे हैं। तीर्थों, कलाओं, खंडहरों, सागर की लहरों और पर्वत, गाँव की धूल-मिट्टी, गंवई कंठ की बोली, विदेशी सरकार, देश-विदेश में खान-पान और इन सब के बीच अपनी पंक्ति-पावनता का सामंजस्य तथा विमान यात्रा से लेकर पदयात्रा आदि सब कुछ का साक्षात्कार उनके यात्रा संबंधी निबंधों में होता है।

संस्मरणात्मक निबंध

वैसे तो पं. विद्यानिवास मिश्र ने संस्मरण या रेखाचित्र नाम से किसी पुस्तक की रचना नहीं की लेकिन विभिन्न संग्रहों में ऐसे अनेक निबंध संकलित हैं जिन्हें संस्मरणात्मक निबंधों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'सपने कहाँ गए' और 'चिड़िया रैन बसेरा' संग्रहों के अधिकांश निबंध संस्मरणात्मक ही हैं। मिश्र जी के संस्मरणात्मक निबंध पूर्णतः सजीव हैं। वह जिस संस्मरण को लिखते हैं उसके साथ उसका पूरा वातावरण जाग उठता है। यहाँ बातचीत और व्यवहारों की उन्मुक्तता दिखाई देती है। समय, स्थान तथा विविध घटनाओं के वर्णन के साथ-साथ जिन महापुरुषों के सान्निध्य में मिश्र जी रहे उनकी विस्तृत चर्चा इन निबंधों में हुई है।

समीक्षात्मक निबंध

मिश्र जी द्वारा समीक्षात्मक दृष्टि से अधिकांश निबंध लिखे गए हैं। इनमें कुछ निबंध साहित्यकारों पर आधारित हैं तो कुछ में उनकी प्रमुख कृतियों का तटस्थ मूल्यांकन दिखाई देता है। व्याख्यात्मकता के साथ ही कुछ निबंध ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय विषयों पर तुलनात्मक रूप में लिखे गए हैं। इन निबंधों में मिश्र जी की वैचारिकता का एक नया आयाम दिखाई देता है। जिनमें विचार तत्त्व की प्रधानता होने के बाद भी निबंधों में सरसता है। अतः यह कहना उचित होगा कि मिश्र जी के निबंध वस्तुतत्व की दृष्टि से समग्रता के संवाहक हैं। उनकी सजग-सचेत नजरों से समाज का कोई पक्ष अनदेखा नहीं रहा है और उनके निबंधों में उनकी स्वानुभूति रूपायित हुई है।

इन सबके अतिरिक्त लोकतत्व पंडित जी के निबंध संसार के हृदय की धड़कन हैं। उनका भारतीय मन सदा उन गलियों में विचरण करता रहा जहाँ धरती को माता और चन्दा का मामा समझा जाता है। जहाँ समस्त वनस्पति जगत् मानव के साथ किसी न किसी मानवीय रिश्ते से सम्बद्ध है और जहाँ का मनुष्य संपूर्ण विश्व के कल्याण की कल्पना के साथ जीवन यापन करता है। इस संबंध में वह स्वीकार करते हैं कि - "मैं गाँवों में पला-बढ़ा हूँ। मेरे व्यक्तित्व निर्माण में लोक जीवन का योगदान रहा है, इन कथाओं और गीतों का योगदान रहा है। इसलिए निबंधों में इनका आना स्वाभाविक है।"

पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों की भाषा - शैली

मिश्र जी के निबंधों की भाषा पूर्णतः संस्कृतनिष्ठ और लोकव्यवहति के बीच चलती है। एक तरफ संस्कृत शब्दावली उनके संस्कृत के विद्वान और भाषाविद् होने की पहचान कराती है तो दूसरी तरफ लोकजीवन की

शब्दावली उनके ठेठ भारतीय या ग्रामीण मन का परिचय देती है। उनके निबंधों की भाषा में आलंकारिक शब्दों तथा प्रतीकों का प्रयोग भी अधिक मात्रा में हुआ है। कहावतों एवं मुहावरों का सटीक प्रयोग भाषा के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। उनके निबंधों में तत्सम शब्द, तद्भव शब्द, लोकव्यवहार के शब्द, देशज शब्द, आंग्ल भाषा के शब्द, अरबी फारसी के शब्द, भोजपुरी भाषा के शब्द, सूक्तियाँ, संस्कृत के उद्धरण आदि सबके दर्शन होते हैं और इन सबका समन्वय मिश्र जी के निबंधों की श्रीवृद्धि करता है।

नोट्स

मिश्र जी की शैली काव्यमय भाषा से सम्पन्न है। शब्दों एवं भावों की मिठास एवं मधुर शैली ने उनके निबंधों को पाठकों के लिए सरस और सहज आस्वाद्य बना दिया है। निबंधों के भावों के अनुरूप ही उन्होंने भाषा और शैली का प्रयोग किया है।

4.24 भक्तिकाल के काल विभाजन और नामकरण

हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल जिसे भक्तिकाल कहा जाता है अत्यधिक वैभवशाली युग है। भक्तिकाल की अंतिम सीमा के निर्धारण में थोड़ा विवाद है। विवाद के कारण केशवदास हैं। केशवदास भक्तिदास के कवि हैं या रीतिकाल के, विवाद का यही बिन्दु है। केशवदास का रचनाकाल 1555–1617 ई. है। रचनाकाल की दृष्टि से केशव भक्तिकाल में आते हैं लेकिन उनकी रचना शैली और साहित्यिक चेतना का स्वर रीतिवादी हैं यहीं यह प्रश्न उठता है कि भक्तिकाल का रूपांतरण किस प्रकार से रीतिकाल में हुआ। भक्ति में प्रेम और समर्पण मुख्य भाव थे। भक्ति का प्रेम तिरोहित होकर स्थूल शृंगार का विषय हो गया उसमें समर्पण के स्थान पर उपभोग की प्रधानता हो गई। तब भक्ति की संवेदना अवरुद्ध हो गई और रीतिवाद का विकास आरंभ हुआ। शृंगार की आध्यात्मिक अनुभूति के मानवीय अनुभूति बनने में तत्कालीन सामंतों की रुचि ने व्यापक योगदान दिया। वह वास्तविक लौकिक शृंगार कम बना कुछ लोगों के मनोरंजन का साधन अधिक बना।

जहाँ तक केशव का सवाल है, कशव के 50 वर्ष बाद रीतिकाल की अखंड धारा प्रवाहित होती है लेकिन साहित्यिक मनोवृत्ति और रचना की भावधारा का मिजाज पहले ही बदल चुका था। उस बदले हुए मिजाज की अभिव्यक्ति को केशव की रचना में आसानी से पहचाना जा सकता है।

'रामचंद्रिका' के साथ उन्होंने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' को भी रचा था। वस्तुतः केशव भक्ति के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त होकर रीति के चमत्कार क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहे थे। केशव के साहित्य और जीवन के जो मूल्य सामने आते हैं, वे निःसंदेह रीतिकाल के जीवन मूल्य हैं। केशवदास की रचनाओं में छंदों की विविधता, अलंकारों की बहुलता एवं चमत्कार प्रियता अधिक है। यह रीतिकाल की मुख्य विशेषता है। रीतिकालीन साहित्य के जो आधार हैं, जैसे लक्षण ग्रंथ साहित्य में मिलती हैं। भक्तिकाल साहित्य के जो आधार हैं, जैसे केशव के साहित्य में मिलती हैं। भक्तिकाल की शायद ही कोई कवि हो जिसने आश्रयदाता की छत्रछाया को स्वीकार किया हो। केशव ने राजाश्रय में कविता को रचा था। इसलिए केशव को संक्रांति काल का कवि मानते हुए भी उन्हें रीतिकाल में ही रखा जा सकता है और भक्तिकाल की अंतिम सीमा को 1643 ई. स्वीकार करना उचित होगा। आचार्य शुक्ल द्वारा खींची गई वह सीमा रेखा हिन्दी साहित्य में मान्य हो चली है।

भक्ति के नामकरण के संबंध में कोई विवाद नहीं है। लगभग सभी साहित्येतिहासकारों ने एकमत

नोट्स

से इस नाम का समर्थन किया है। भक्ति तत्कालीन साहित्य का आंतरिक भाव है। भक्ति के प्रकार में भिन्नता मिलती है लेकिन भक्ति साहित्य की आंतरिक चेतना में कोई विरोध नहीं मिलता है। भक्तिकाव्य का जो सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है वह यह है कि यदि भक्तिकाल की धार्मिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों को छोड़ भी दिया जाए तो भी उसमें मानवीय संवेदना की शीतल छाया मौजूद है। भक्तिकाव्य ने जीवन के प्रश्न को कवित का प्रश्न बनाया है। इसलि वह दबे स्वर में व्यवस्था को चुनौती देता है। समाज के लिए एक विकल्प की तलाश करता है। उस साहित्य में क्रांति और विद्रोह की चेतना है। भक्ति साहित्य कालजयी इसीलिए है कि उसने जीवन की जटिलताओं को काव्य के उद्देश्य के रूप में पस्तावित किया।

सम्पूर्ण भक्तिकाल का अवलोकन करने पर हम आसानी से पहचान सकते हैं कि सभी भक्तों ने ईश्वर भावना से प्रेरित होकर ही अपने उद्‌गार व्यक्त किए लेकिन ध्यान देने पर ए बात और हमारे सामने आती है, वह यह है कि सभी भक्तों के काव्य की अपनी अलग पहचान है। कबीर, सूर, जाससी, तुलसी, मीरा सभी भक्त कवि थे किन्तु उनके काव्य कुछ न कुछ भेद अवश्य है। उदाहरण के तौर सूरदास की भक्ति सखा भाव की है, वे अपने आराध्य कृष्ण को सखा के रूप में भजते हैं। दूसरी ओर तुलसी अपनी आराध्य राम को अपना मालिक मातनते हैं। मीरा अपने कृष्ण को प्रियतम के रूप में भजती हैं। इस प्रकार सभी रूप से हम भक्ति काव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं-निर्गुणोपासक और सगुणोपसक। निर्गुण और सगुण की भी दो-दो उपशाखाएँ हो जाती हैं। हम निम्न तालिका से इन भेदों को आसानी से पहचान सकते हैं:

भक्ति आंदोलन की शुरुआत ईसा से पाँचवी छठी शताब्दी में ही हो गई थी। दक्षिणभारत के तमिल प्रांत के आलवार भक्तों की वाणियों द्वारा भक्ति का स्रोत बहने लगा था। यह भक्ति की धारा कर्नाटक होते हुए महाराष्ट्र पहुँची, फिर सीमावर्ती प्रदेश में इसका विस्तार होता गया।

धीरे-धीरे सम्पूर्ण उत्तर भारत भक्ति आंदोलन से आंदोलित हो उठा।

ऊपर की तालिका में भक्ति की शाखाओं, उपशाखाओं को दर्शाया गया है। यह तालिका केवल भक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों को ही प्रकट करती है, किन्तु वास्तव में सभी ईश्वर की सत्ता का ही गुणगान कर रहे थे। निर्गुण भक्तों ने ईश्वर को निराकार रूप में माना। उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह तो कण-कण में व्याप्त है इसलिए वह किसी आकार क अंदर समा ही नहीं सकता। निर्गुण शाखा के ज्ञानाश्रयी उपशाखा के अंतर्गत कबीर, रैदास, नानक आदि प्रमुख भक्त कवि हुए। प्रेममार्गी उपशाखा के अंतर्गत जायसी, कुतुबन, मंझन आदि कवि हुए।

सूफी कवियों का आराध्य पुरुष न होकर नारी है। उसकी सत्ता सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। इन कवियों ने नारी की जो कल्पना की है, वह वास्तव में साधारण नारी नहीं बल्कि सर्वशक्तिमान सत्ता है।

4.25 भारतेन्दु युग का काल-विभाजन और नामकरण

आधुनिक हिन्दी के विकास का आरंभ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन् 1843 ई. से मानते हैं तो डॉ. रामविलास शर्मा इसका आरंभ सन् 1868 ई. से ही मानना उचित समझते हैं। दूसरी ओर डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस युग का आरंभ सन् 1850 ई. से ही माना है। वैज्ञानिक और राजनीतिक घटनाओं के प्रभाव को दृष्टिगत कर हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का आरंभ

नोट्स

सन् 1850 ई. से मानना समुचित समझते हैं। ऐसा दिखाई देता है। दूसरा कारण यह है कि सन् 1850 ई. युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिशचन्द्र का जन्म समय है। चाहे उनके जन्म से आधुनिकता का आरंभ न हुआ हो लेकिन और दूसरी घटनाओं के साथ यह भी एक घटना ही मानी जा सकती है। अत: इस वर्ष को आधुनिक संवेदना का पहला कदम कहा जा सकता है। आधुनिक काल के अंतर्गत एक विशेष प्रकार के साहित्य की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसे ही दृष्टिगत करके इस काल को सामान्य रूप से भारतेन्दु युग के नाम से पुकारा जाता है। इसका अवसान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् 1893 ई. तक माना है। दूसरी ओर डॉ. रामविलास शर्मा और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस युग की अंतिम सीमा सन् 1900 ई. मानी है। इस काल की अंतिम सीमा

सन् 1900 ई. ही मानना उचित होगा क्योंकि इस काल तक भी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

सन् 1893 ई. के बाद भी सक्रिय रहीं।

सन् 1850 ई. से लेकर सन् 1900 ई. तक के इस हिन्दी साहित्य के इतिहास को कम से कम चार भागों में साहित्य समीक्षकों ने विभाजित करना उचित समझा है। इस दृष्टि से उन्होंने चार नाम प्रस्तुत किए हैं–परिवर्तन काल, पुनर्जागरण काल, आधुनिक काल और नवजागरण काल।

प्रत्येक देश और काल के साहित्य में परिवर्तन की प्रकृति अवश्य होती है। इसलिए परिवर्तन काल नाम का कोई औचित्य नहीं ठहरता है। पुनर्जागरण काल का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। यही नहीं, इस काल का प्रबल वेग केवल भारतेन्दु युग तक ही नहीं रहा, अपितु यह स्वतंत्रता काल तक समान रूप से रहा। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस विशाल कालखंड के साहित्य में अनेकता और विविधता दिखाई देती है। इस आधार पर इसे साहित्यिक संवेदना का पुरर्जागरण कहना भी उचित नहीं है। इसलिए इसे कई उपभागों में विभाजित करके ही इसे समझने में सुविधा होगी।

4.26 आदिकालीन जैन साहित्य

जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश में लिखी गई हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य का व्यापक प्रभाव परवर्ती हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है। जैन साहित्य के महत्त्व की दूसरी बात उसकी प्रामाणिकता को लेकर है। आदिकाल में जितने भी प्रकार के साहित्य मिलते हैं उनमें लगभग सभी प्रकार के साहित्य की प्रामाणिकता परप्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। जैन साहित्य इसका उपवाद है। जैन साहित्य का परिरक्षण धर्म संप्रदाय के आश्रय में हुआ था, इसलिए उस साहित्य का लिखित रूप अपरिवर्तित रूप में जैन मठों और पुस्तकालयों में सुरक्षित रहा।

जैन साहित्य में आदिकाल की भाषा और सामाजिक गति का महत्त्वपूर्ण तथ्य छिपा हुआ है, इसलिए जैन साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। उसे मात्र धार्मिक साहित्य कहकर हिन्दी साहित्य से खारिज नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा संभव होता तो भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग नहीं कहा जाता। मिथक में मानवीय अनुभूमि का संशिलष्ट रूप छिपा होता है। इस युग के संदर्भ में मिथक के अर्थ बदलते हैं। जैन साहित्य में भी कुछ मिथकों का प्रयोग मिलता है। साहित्य में मिथक का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी मिथक का प्रचुर प्रयोग मिलता है। साहित्य के संदर्भ में यह देखना होता है कि उन धार्मिक रचनाओं में मानवीय अनुभूति को विस्तार मिला है या नहीं। रचना की सृजनात्मक

नोट्स

अनुभूति में मानवीयता है यानहीं वस्तुतः

धार्मिकता साहित्यिक संवेदना का अवरोधक नहीं है। धर्म का उपयोग यदि संकीर्ण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए हो रहा है तो वह साहित्य निःसंदेह साहित्य कोटि में नहीं आ पाएगा।

जैन साहित्य के प्रकार: जैन साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। प्रथम प्रकार की रचनाएँ, जिन्हें पौराणिक काव्य कह सकते हैं, इस प्रकार के रचनाकारों में स्वयंभू, पुष्पदंत आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं। द्वितीय प्रकारकी रचनाओं में, मुक्तक रचनाओं को रखा जा सकता है जिसमें रस, फाग, चर्चरी अदि काव्यों का विवेचन किया जा सकता है तथा तृतीय प्रकार की रचनओं में, हेमचन्द और मेरुतुंग की रचनाओं को लिया जा सकता है।

सिद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य वज्रयान परम्परा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है, जो अपभ्रंश के दोहे तथा चर्या पद के रूप में उपलब्ध है। वस्तुतः सिद्धों ने आनी साधना का लक्ष्य ज्ञान, साधना पद्धति, हठयोग को अनुभूति के रंग में रंग दिया। उसके पीछे सिद्धों का उद्देश्य था-बौद्ध धर्म के निवृत्तिमूलक दुःखवादी रूप का निराकरण करके आनंद की भावना की प्रतिष्ठा। आनंद को सिद्धों न आयात्मिक गहनता माना है। इसके लिए जिस शब्दावली का उन्होंने प्रयोग किया है, वह लौकिक अर्थ में प्रणय के घनिष्ठ चित्र है।

साहित्य में प्रणय के प्रसंग: सिद्धों ने बौद्ध परम्परा में चली आती हुई निर्वाण ाावना का तिरस्कार कर महासुख की अनुभूति को प्रमुखता प्रदान की। बौद्ध धर्म में निर्वाण के तीन अवयव इहराए गए हैं-शून्य, विज्ञान और महासुख। वज्रयान में महासुख का प्रवर्तन हुआ। वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया है, इसलिए सिद्धों के सहित्य में प्रणय के प्रसंग अधिक हैं। हो सकता है, सिद्धों के इस प्रणय का गहन आध्यात्मिक अर्थ हो, लेकिन उन्होंने जिस लौकिक शब्दावली में व्यक्त किया है, वह भी साहित्य के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कण्हपा के डोम्बी गीत में डोम्बी के प्रति कपाली का प्रेम निवेदन बहुत ही संवदनशील है। कण्हपा जब डोम्बी नारी का चित्रण करते हैं तो उसमें लोकजीवन की डोम्बी नारी का यथार्थ चित्र उपस्थित हो जाता है। यह डोम्बी अन्य डोम्बी नारियों की भाँति नगर के बाहर कुटिया में रहती हैं वह नृत्य में कुशल हैं वह नौका पर चढ़कर नदी पार कर नगर के हाट में अपना सामानबेचने जाती है। वह तंत्री मालाएँ तथा हाथ की बुनी हुई टोकरियाँ वेचती है।

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ।
छोइ जाइ सो बाह्य नाड़िया।
आलो डोबि? तोए सम करिब म साँग। निधिण कण्ह कपाली
जोई लाग॥
एक्क सो पदमा चौपट्टि पाखुडी। तहि चढि नाचउ डोंबी
वापुड़ी।
हालो डोंबी? तो पुछिम सद्भावे। अइससि जासि डोंबी कहरि
नावे॥

इसमें 'कमल चौसठ पाखुड़ी' के ऊपर डोम्बी के नाचने का आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है लेकिन

लौकिक अर्थ का सौन्दर्य भी इसमें व्याप्त है। कण्हपा बार-बार अपने दोहे में गृहिणी का वर्णन करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि जैसे नमक पानी में घुल जाता है, उसी प्रकार गृहिणी को अपने चित्त में धारण करो। इस प्रकार कण्हपा गृहस्थ और गृहिणी की अद्वैत अनुभूति का संकेत करते हैं।

नोट्स

4.27 सिद्ध-नाथ साहित्य

सिद्ध साहित्य: भारतीय धर्म साधना में सिद्धों का प्रादुर्भाव 8वीं शती के अस-पास माना जाता है। सिद्ध सम्प्रदाय वस्तुत: बौद्ध धर्म की विकृति है। ईसा की प्रथम शताब्दी तक आते-आते बौद्ध धर्म हीनयान और महान नामक दो शखाओं में विभक्त हो गया। हीनयान में सिद्धान्त पक्ष की प्रधानता थी जबकि महायान में व्यवहारिकता पर बल दिया जाता था। हीनयान केवल विरक्तों और संन्यासियों को आश्रय देता था जबकि महायान के द्वार सबके लिए खुले थे। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, गृहस्थ-संन्यासी सबको निर्वाण तक पहुँचाने का दावा महायान शाखा का था।

बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार भारत से बाहर भी पर्याप्त हुआ। तिब्बत और नेपाल में यह धर्म शैव मत से प्रभावित हुआ और जनसामान्य को आकर्षित करने के लिए इसमें तन्त्र मन्त्र एवं अभिचार का समावेश हो गया। परिणामत: इसकी मूल दिशा बदल गई और त्याग, तपस्या एवं संयम का स्थान भोग-विलास ने लेय लिया। साधक 'मन्त्र-जप' की ओर उन्मुख हो गए और इस प्रकार महायान ही मन्त्रयान बन गया। आगे चलकर इस मन्त्रयान के दो भाग हुए-बज्रयान और सहजयान। इनमें से वज्रयानी ही सिद्ध कहलाए। ये मन्त्र जप से सिद्धि की आकांक्षा करते थे।

सिद्ध साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ:

1. सिद्ध साहित्य में शास्त्रीय चिन्तन पक्ष गौण है, साधना पर बल दिया गया है।
2. गुरु के महत्व को स्वीकारा गया है।
3. रूढ़ियों, बाह्याडम्बरों का विरोध है तथा शास्त्र के प्रति अवहेलना भाव है।
4. सिद्ध साहित्य में रहस्यवादी भावना के साथ-साथ योग साधना पर विशेश बल है। ब्रह्माण्ड में जो शिव और शक्ति है, पिण्ड (शरीर) में वही सहस्रार और कुण्डलिनी है।
5. वैदिक देवताओं के प्रति अनास्था व्यक्त की गई है।
6. ब्राह्मणवाद के प्रति अवज्ञा एवं वेदों के प्रति असम्मान व्यक्ति किया है।
7. चमत्कार प्रदर्शनर की भावना विद्यमान है।
8. प्रतीकों का प्रयोग करते हुए चमत्कार सृष्टि की गई है।
9. सिद्धों की साधना को गुह्य साधना कहा गया, जिसके बहाने उसमें कामशास्त्र का समावेश हुआ।

4.28 रासो साहित्य

रासो काव्य की पृष्ठभूमि: रसो काव्य से हमारा तात्पर्य आदिकालीन साहित्य की वीरगाथात्मक कृतियों से है। आदिकालीन साहित्य में रास ग्रन्थ और रासो ग्रन्थ दोनों प्रकार की रचनाओं की चर्चा मिलती है। रास साहित्य और रासो साहित्य का मुख्य अंतर भावानुभूति को लेकर है। रास साहित्य की संवेदना ध

नोट्स

र्मिक अनुभूति अथवा लौकिक प्रेम की अनुभूति से जुड़ी हुई है। रास काव्य का प्रसार जैन साहित्य में देखने को मिलताहै। रास साहित्य में लौकिक प्रेमानुभूतिको भी अभिव्यक्ति किया गया है। 'संदेश रासक' इसी तरह के साहित्य का उदाहरण है। आदिकालीन साहित्य में रास काव्य का नाम जैन रचनाकारों द्वारा लिखे गए रासक ग्रन्थों और 'संदेश रासक' जैसे प्रेमानुभूति प्रधान काव्य संवेदना के लिए रूढ़ हो गया हैं वस्तुतः रास, रासो, रासउ और रसायण शब्द अलग-अलग हैं और वे एक खास तरह के मनौभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

वस्तुतः रासो साहित्य की रचना चारणों द्वारा हुई थी। चारणों का साहित्य में आगमन सामंतवादी व्यवस्था के समानांतर होता है। सामंतों को प्रशशास्तिगान के लए चारणों की आवश्यकता हुई। प्रशस्तिगान में चारण अधिकतर आश्रयदाता सामंतों की अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा करते थे। प्रशस्तिगान की विषय-वस्तु बहुत ही सीमित थी। सामंतों के जीवन में दो बातों की प्रधानता थी युद्ध और प्रेम। इसलिए चारणों के साहित्य में भी इन्हीं दो विषयों की प्रमुखता मिलती है। किसी राजा की रूपवती कन्या का संवाद पाकर किसी दूसरे राजा का चढ़ाई करना तथा उस कन्या का हरण कर लेना, वीरों के लिए गौरव और अभिमान का विषय था। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासों में इस प्रकार के कई प्रसंग आए हैं। राजनीतिक कारण ों से हुए युद्धों के स्थान पर भी चारणों ने काव्य में रूपवती स्त्री को ही युद्ध का कारण परिकल्पित किया है। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गौरी के बीच के युद्ध का कारण एक रूपवती स्त्री को बताया गया है। साहित्य बहुत कुछ सामाजिक संरचना पर निर्भर करता है। सामाजिक संस्था की बनावट का प्रभाव साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। सामंती व्यवस्था में चारण कवियों ने जीवन के उन पक्षों को अनदेखा किया जिसका संबंध जीवन के अभावों से है, इसीलिए व्यवस्था से शोषित सामान्य मानव के घरेलू जीवन और उसकी समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं है।

4.29 कबीरदास

कबीरदास: इनके जनमकाल, जीवन-मरण तथा जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं के विषय में किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के घर में हुआ था किन्तु लोकभय से वह इन्हें लहरतारा ताल के निकट छोड़ आई। इनका पालन-पोषण नीरू-नामा नाक जुलाहा दम्पत्ति ने किया। रामानन्द इनके दीक्षा गुरु

थे, उनसे नाम का मंत्र लेने के लिए ये पंचगंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ से प्रतःकाल रामानन्द स्नान करने जाते थे। अंधेरे में रामानन्द के चारण कबीर साहब पर पड़ गए और रामानन्द जी बोल उठे 'राम राम कह'। आगे चलकर यही मंत्र मानुष सत्य के महान् लक्ष्य की प्राप्ति में तथा वैषम्य के दुराग्रहों को छोड़कर सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना में सहायक हुआ। कबीर ने 'मसि कागद' नहीं छुआ, उन्होंने आत्म-चिंतन एवं लोकनिरीक्षण से जो ज्ञान प्राप्त किया, उसी को निर्भयतापूर्वक अपनी साखियों और पदों में अभिव्यक्त किया। इन्होंने वर्णाश्रम धर्म में प्रचलित कुरीतियों को ही नहीं, लोक में प्रचलित अपधर्म को भी पहचाना: 'ताथै कहिये लोकाचार वेद कतेब कथै व्यवहार'। कबीर साहसी और तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी थे। उनकी कथनी और करनी में जबरदस्त सकरूपता थी। जनता को सम्बोधित करके परीक्षा के क्षणों में पीछे हट जाने उपदेशक वे न थे। वे ऐसे कर्मयोगी थे जो अंधविश्वासों की खाई

नोट्स

पाटन के लिए अपना घर जलाने को तैयार थे। काशी को देवभूमि मानकर यह विश्वास किया जाता है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु तपोभूमि में होगी वह मरणोपरान्त अवश्य ही श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी होगा और जो व्यक्ति मगहर में कालकवलित होगा वह अगले जन्म में निकृष्ट योनि में जन्म लेगा। लोक में फैले इस अंधविश्वास को तोड़ने के लिए जीवन के अन्तिम समय में कबीर मगहर में जाकर रहने लगे। उन्होंने सिद्ध किया कि 'एक जीव वे सब जग उपज्या कौन भला कौन मंदा' और इसी प्रकार यह अंध विश्वास भी तोड़ा: 'जो काशी तन तजै कबीरा तो रामहि कहा निहोरा रे'।

4.30 निर्गुण एवं सगुण भक्ति

सामान्यतः ईश्वर के दो रूप माने गए हैं- सगुण एवं निर्गुण। जब परमात्मा को निराकार, अज, अनादि, सर्वव्यापी, गुणातीत, अगोचर, सूक्ष्म मानकर उसकी विवेचना की जाती है तब उसे निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है और जब वही ब्रह्म सगुण साकार रूप धारण कर नर शरीर ग्रहण कर विभिनन प्रकार के कृत्य करता है तब उसे सगुण परमात्मा के रूप में जाना जाता है। राम, कृष्ण आदि शरीरधारी परमात्मा के सगुण, साकार रूप हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार-"सगुणोपासक भक्त भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है, निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता है।" सगुण भक्ति में जहाँ लीलावतार को आराध्य माना गया है वहीं निर्गुण भक्ति में ब्रह्मज्ञान और योगसाधना को विशेष स्थान दिया गया हैं सगुण भक्ति में भगवत्कृपा को विशेष महत्व मिला है तो निगुर्ण भक्ति ब्रह्मानुभूति पर विशेष बल देती है।

सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है, किन्तु केवल इसी कारण से निर्गुण भक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सगुणोपासाकों ने निर्गुण भक्ति पर अनेक प्रकार की शंकाएँ उठाई हैं। उनका सबसे प्रबल तर्क यह है कि निर्गुण अनुभूति का विषय कैसे बन सकता है, जब तक कि भक्ति के लिए कोई रूपाकार ही न हो। भक्ति के लिए साकार, मूर्त की आवश्यकता होती है। निराकार का ध्यान कैसे किया जा सकता है।

कबीर आदि निर्गुण सन्त कवियों में ज्ञानमार्ग की जो बातें हैं, वे हिन्दू शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने सामानन्द जी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, त्रिकुटी, छः रिपु आदि का परिचय उन्हें सत्संग से ही मिला था। हठयोगियों की शब्दावली कबीर ने सामान्य जनता की बुद्धि पर आश्रित है। निर्गुण ब्रह्म को जब भावना का विषय वना लिया जाता है तो 'रहस्यवाद' का जन्म होता है। कबीर और जायसी दोनों मं ही निर्गुण ब्रह्म को रहस्यवाद का विषय बनाया है। सांसारिक प्रपंच से ऊपर उठकर उस अलौकिक सत्ता को प्राप्त करने की साधना रहस्यवाद का मूल तत्त्व है।

कबीर और जायसी दोनों का निर्गुण धारा के कवि मानने का मूल कारण है-इनके द्वारा ईश्वर को निर्गुण, रिकार, अज, अनादि मानना तथा उसके साकार रूप को अस्वीकार करना। आचार्य शुक्ल जी ने सूफी कवि जायसी के रहस्यवाद को भावात्मक तथा सन्त कवि कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक कोटि में स्वीकार किया है।

4.31 आदिकालीन जैन साहित्य

जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश में लिखी गई हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य का व्यापक प्रभाव परवर्ती हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है। जैन साहित्य के महत्व की दूसरी बात उसकी प्रमाणिकता को लेकर है। आदिकाल में जितने भी प्रकार के साहित्य मिलते हैं उनमें लगभग सभी प्रकार के साहित्य की प्रमाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। जैन साहित्य इसका अपवाद है। जैन साहित्य का परिरक्षण धर्म संप्रदाय के आश्रय में हुआ था, इसलिए उस साहित्य का लिखित रूप अपरिवर्तित रूप में जैन मठों और पुस्तकालयों में सुरक्षित रहा। जैन साहित्य में आदिकाल की भाषा और सामाजिक गति का महत्वपूर्ण तथ्य छिपा हुआ है, इसलिए जैन साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। उसे मात्र धार्मिक साहित्य कहकर हिन्दी साहित्य से खरिज नहीं किया जा सकता। वास्तव में, धर्म किसी साहित्य को खरिज करने का आधार नहीं हो सकता। यदि ऐसा संभव होता तो भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग नहीं कहा जाता। मिथक में मानवीय अनुभूमि का संशिलष्ट रूप छिपा होता है। हर युग के संदर्थ में सिथक के अर्थ बदलते हैं। जैन साहित्य में भी कुछ मिथकों का प्रयोग मिलता है। साहित्य में मिथक का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी मिथक का प्रचुर प्रयोग मिलता है। साहित्य से संदर्भ में यह देखना होता है कि उन धार्मिक रचनाओं में मानवीय अनुभूति को विस्तार मिला है या नहीं। रचना की सृजनात्मक अनुभूति में मानवीयता है या नहीं। वस्तुतः

धार्मिकता साहित्यिक संवेदना का अवरोधक नहीं है। धर्म का उपयोग यदि संकीर्ण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए हो रहा है तो वह साहित्य निःसंदेह साहित्य कोटि में नही आ पाएगा।

जैन साहित्य के प्रकारः जैन साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। प्रथम प्रकार की रचनाएँ, जिन्हें पौराणिक काव्य कह सकते हैं, इस प्रकार के रचनाकारों में स्वयंभू, पुष्पदंत आदि के नाम गनाए जा सकते हैं। द्वितीय प्रकार की रचनाओं में, मुक्तक रचनाओं को रखा जा सकता है जिसमें रास, फाग, चर्चरी आदि काव्यों का विवेचन किया जा सकता है तथा तृतीय प्रकार की रचनाओं में, हेमचन्द और मेरुतुंग की रचनाओं को लिया जा सकता है।

4.32 रामभक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्य

'भक्ति' तथा 'भक्ति आन्दोलन' का पूरा चरित्र सत्तावाद सामन्तवाद का विरोधी रहा है। कृष्ण भक्त धारा के एक भक्त कवि कुम्भनदास का पद 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' इस पूरी विचार परम्परा का प्रतीक है। तुलसीदास ने 'प्राकृत जन कोन्हे गुन गाना' की प्रशस्ति परम्परा का विरोध किया। उनका यह स्वर न केवल विद्रोही स्वर है बल्कि गहरे अर्थों में चारण-भाट सामन्त पूजा का तिरस्कार करता है। भक्ति आन्दोलन की प्राणधारा से प्रभावित अकबर ने तीर्थकर और जजिया समाप्त कर दिया। उसी के समय में राजा मानसिंह ने वृन्दावन और काशी में विशाल मन्दिर बनवाए। कुछ अकबरकालीन ऐसे किक्के मिले हैं जिन पर 'राम-सीता' का चित्र अंकित है, ऐसी एक अठन्नी 'भारत कला भवन' काशी में है। 'राम-सीय' नागरी में अंकित हैं। अकवर स्वयं सूर्यनाम का हजारा जप करता था और पंडित सुन्दर लाल जी से हिन्दू शास्त्रों की चर्चा सुनता था। 'ईश्वर' से बड़ा कोई नहीं है यह बात भक्तिकाल में निर्गुण कबीर, प्रेममार्गी जायसी में पूरे विश्वास के साथ मौजूद है और इसी बात को 'राम से बड़ो है कौन'

पूछकर तुलसी ने राम-भक्ति-महिमा का लीला गान किया है। रसिक राम भक्तिधारा में रामदास, अग्रदास, विषणुदास, नहररिदास, कल्याण जी, नाभादास, चतुरदास, रामदास, मलेकदास सभी ने 'वाताराम' के गुणों का गान किया है - किसी हिन्दू मुसलमान सामन्त का नहीं। इन सभी के लिए भक्ति मात्र उपासना पद्धति नहीं है - एक मूल्य है, एक पूरी जीवन-पद्धति।

नोट्स

मर्यादावादी रामभक्ति परम्परा ने वाल्मीकि रामायण के आदर्शपर राकथा पर आधारित प्रबन्धों की रचना की। तुलसी पूर्व रामभक्ति धारा में कवि ईश्वरदास तथा विष्णुदास ने चरित काव्य परम्परा का राम-रूप लिया है। मोहन ने 'हनुमन्नाटक' सूरदास ने 'सूरसागर' में राम-रामायण लिख दी और मीराबाई ने राम की शयन-आरती लिखकर कृष्ण लिखकर भक्तों की राम निष्ठा का विस्तार किया। परमानंद दास, नंददास, हितहरिवंश सभी राम-सीता गान करते हैं। इस परम्परा का श्रेष्ठ रूप तुलसी दास में 'रामचरितमानस', 'कवितावली', 'गीतावली', 'विनय पत्रिका' आदि रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जहाँगीर-कालीन सामंतवाद के अत्याचार तुलसी को याद है-

करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करमाया॥
जेही विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला॥

'नाना पुराण निगमागत सम्मत' अर्थात् आगम (लोक-परम्परा) निगम (वैदिक-बौद्धिक परम्परा शास्त्र) दोनों परम्पराओं को मिलाकर तुलसी ने राम कथा को सामन्तविरोधी मूलें से मंडित किया। राम वनवास के समय ग्रामवासियों से मिलते हैं - केवट-निषाद को गले लगाते हैं, अहिल्या को तारते हैं, पतित पावन राम, दीनबन्धु-दीनानाथ के रूप में सामने आते हैं - वे राजाओं के पास मदद माँगने नहीं जाते, वानरों-भलुओं-भलों निषादों की मदद से 'जगत दुःखदाता' रावण का वध करते हैं। जगह-जगह मानस में सामन्तवाद-साम्राज्यवाद को नीचा दिखाया गया है।

4.33 भक्ति आंदोलन

भक्ति आंदोलन की शुरुआत सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुई। दक्षिण भारत का भक्ति आंदालन बाद के दिनों में भारत के कई क्षेत्रों में फैला। यह आंदोलन दक्षिण से उत्तर भार में कैसे विकसित हुआ इसे हम समझ चुके है। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलना का एक सूत्र महाराष्ट्र के भक्ति आंदोलन से जुड़ा। तेरहतीं-चौदहवीं शताब्दी में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि भक्तों ने इस आंदोलन के माध्यम से महाराष्ट्र में एक जातीय एवं सांप्रदायिक एकता को मजबूत किया। आरंभिक दौर में कट्टर पुराण पंथियों द्वारा इन संतों का विरोध भी हुआ और इन संतो को कष्टमय जीवन बिताना पड़ा लेकिन भक्ति आंदोलन के दृढ़ हो जाने पर यह विरोध टिक नहीं सका। सत्रहवीं शताब्दी में तुकाराम और रामदास तक आते-आते यह आंदोलन महाराष्ट्रीय जनजीवन की एक शक्ति बन गया। इसी के परिणामस्वरूप आगे चलकर शिवाजी के माध्यम से राजनीतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म हुआ। महाराष्ट्र के भक्ति आंदोलन में सगुण-निर्गुण का विवाद नहीं था। इसी तरह बंगाल में चण्डीदास से लेकर चैतन्य तक सभी भक्तों ने मनुष्य मात्र की समानतापर जोर देते हुए वैष्णव भक्ति आंदोलन को दृढ़ किया। इन भक्तों का संबंध भी दक्षिण के वैष्णव आंदालन से ह। इन्होंने मनुष्य मात्र की समानता पर जोर दिया-

"शुनह मानुष भाई,

नोट्स

शबार उपरे मानुष शत्तो
ताहर उपरे नाई।"

जाति और धर्म के बंधन का इन्होंने विरोध किया। हिन्दू तथा मुसलमानों की निम्न श्रेणियाँ वाले लोग भी चैतन्य के शिष्य थे। रुज, सनातन, हरिदास आदि मुसलमान थे जो चैतन्य के प्रधान शिष्यों में गिने जाते थे। इनके यहाँ सगुण-निर्गुण का विवाद नहीं था। उन्होंने जाति आधारित

धार्मिक प्रणालियों को त्याग कर कृष्ण की शरण में जाने का संदेश दिया। पंजाब प्रांत में गुरु नानक साहब ने सिख संप्रदाय की स्थापना की। नानक से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक संतों की लम्बी परंपरा है जिन्होंने समाज को संगठित करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आगे चलकर इस संप्रदाय की क्रांतिकारी भूमिका सामने आई। इस तरह हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन का स्वरूप अखिल भारतीय था। भक्ति आंदोलन की यह सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है कि उसने संपूर्ण भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में जोड़ दिया। इजिहासकारों ने दक्षिण भारत में भक्ति के उदय की व्याख्या सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भों में की है। उनके अनुसार जो स्थित उत्तर भारत में 13वीं - 14वीं सदी में उत्पन्न हुई वह दक्षिण भारत में पहली सदी के बाद ही पैदा हो गई थी। दक्षिणी भारत में पहली शताब्दी के बाद कई शताब्दियों तक राजसत्ता अनेक पराक्रमी शासकों के हाथ में रही। केन्द्रीय सत्ता के मजबूत होने के परिणामस्वरूप व्यापार और कृषि में उन्नत्ति स्वाभाविक है। दक्षिण में चोलवंशी शासक करिकाल नपे कावेरी जल को नियंत्रित कर सिंचाई की व्यवस्था की।

भक्तिकाल की धार्मिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि

भक्ति युग का विस्तार सम्वत् 1375 से 1700 तक माना जाता है। 'भक्ति' शब्द का अर्थ विभिन्न कोषों में 'विभाजन' अनुराग पूजा 'उपासना' आदि दिया गया है। हमारे विभिन्न आचार्यों ने भक्ति को निम्नलिखित रूप से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है-

1. शाण्डिल्य: 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र-2) अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग रूपा है।
2. नारद-भक्ति-सूत्र: 'सा तस्मिन् परम-प्रेम रूपा, अमृत-स्वरूपा च। तत्रापि महात्म्य ज्ञान विस्मृत्य वपादे: तद्विहीन जाराणामिव' अर्थात् वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा और अमृतस्वरूपा है। फिर भी माहात्म्य ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह व्यभिचारियों के प्रेम तुल्य हो जाएगी।
3. श्री मद्भगवद्गीता: मध्यर्पित मनोबुद्धियों मदभक्त: स मे प्रिय: (अध्याय 12 - 14) अर्थात् जिसने अपना मन औरबुद्धि मुझे अर्पित कर दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है।
4. पाराशार्य: 'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य: अर्थात् पूजादि में अनुराग होना ही भक्ति है।' भक्ति की उपर्युक्त परिभाषाओं में आंशिक अन्तर होते हुए भी भाव की दृष्टि से एकता है। गीता में भक्ति के लिए हृदय और बुद्धि का समर्पण स्वीकार किया है। इसी प्रकार पाराशर्य, शाण्डिल्य, नारद और वल्लभाचार्य ने अनुराग के साथ पूजा व महात्म्य ज्ञान का पक्षा लिया है। अस्तु गीताकार द्वारा व्याख्यायित भक्ति का हृदय और बुद्धि का स्वरूप परवर्ती आचार्यों द्वारा नुराग

तथा माहात्म्यज्ञा के रूप में मान्य हुआ। इसी को बाद में आचार्य शुक्ल ने प्रेम और श्रद्धा का नाम दिया। आचार्य शुक्ल की भक्ति सम्बन्धी परिभाषा श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। इसमें उपयुक्त सभी मतों का समन्वय हो गया है।

नोट्स

धार्मिक सन्दर्भ: भक्ति युग की धार्मिक परिस्थितियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-प्रथम, बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थिति द्वितीय, वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति। इसके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशी धार्मिक परिस्थिति ने भी भरत में स्थान बनाया जिसे सूफी धर्म के नाम से जाना जा सकता है।

4.34 सूफी प्रेमाख्यानक काव्य

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा: मनुष्यता के सामान्य स्वरूप को लेकर अग्रसर होने वाली सूफी काव्य परम्परा अत्यंत समृद्ध रही है। मलिक मुहम्मद 'जायसी' का पद्मावत इसी परम्परा का उत्कृष्ट ग्रंथ है। जायसी के इस ग्रंथ में सूफी काव्य परम्परा की सभी विशेषताएँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं। इस ग्रंथ की उत्कृष्टता एवं विषय तथा शैली इस बात की ओर संकेत करते है कि जपयसी से पूर्व ही यह परम्परा प्रारंभ हो गई थी। जायसी में इस परम्परा का चरम रूप दिखाई पड़ता है। जायसी के पश्चात् भी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य की यह परम्परा निरंतर प्रवाहमान रही। इस काव्य परम्परा के सिरमौर कवि जायसी को आधार बनाकर प्रेमाख्यानक काव्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) जायसी पूर्व प्रेमाख्यानक काव्य

(ख) जायसी उत्तर प्रेमाख्यानक काव्य

(क) जायसी पूर्व प्रेमाख्यानक काव्य: जायसी के पूर्व प्रेमाख्यानक काव्यों की पुष्टि जायसी का पद्मावत कर देता है जिसमें कवि ने स्पष्ट रूप से अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का उल्लेख किया है-

"विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गरउ पतारा॥
मधूपाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधु कुँवर खंडरावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुथ वर बाँधा॥"

क्या सूची में गिनाई गई प्रेमाख्यानक रचनाओं में केवल मृगावती और मधुमालती ही प्राप्त हो सकी हैं। जासयी के इस छंद में कुछ नाम छूट गए हैं। इस परम्परा में मुल्ला दाऊद की चंदायन या नूरकंचदा, दामों कवि की लक्षमण सेन पद्मावती, शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी की रचना प्रेमवनजाब निरंजन, नारायण दास की छिताईवार्ता ईश्वरदास विरचित सत्यवती कथा महत्वपूर्ण हैं।

(ख) जायसी के उत्तरवर्ती प्रेमाख्यानक काव्य: जायसी के बाद भी प्रेमगाथाओं की यह परम्परा गतिमान रही।

4.35 निर्गुण काव्यधारा की ज्ञानमार्गी शाखा

ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने की थी। उन्होंने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण भक्ति के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण को ज्ञान से संबद्ध किया है। उन्होंने निर्गुण बह्म तथा ज्ञन साधना को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया। इसी ऐतिहासिक कारण से निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान की अनुभूति को ही भक्ति माना जाता है अर्थात् निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन 'ज्ञान' को बताया गया है। यह ज्ञान वस्तुतः अंतर्ज्ञान है जो सहज ही बिना किसी भक्तिमार्गीय पद्धति के साधनों के उत्पन्न होता है।

निर्गुण काव्यधारा की ज्ञानमार्गी शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण निम्नलिखित है:

1. भक्ति निरूपण: संत कवियों के लिए भक्ति शान्ति की खोज में आए साधक की शरणभूमि न थी। यह उनकी कर्मभूमि थी। इसी से वे लोक हृदय को आस्था का संबल दे सकें तथा सामाजिक ऐक्य की स्थापना के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील हो सकें। प्रचलित सामान्य अर्थ में ईश्वर के प्रति सहज आसक्ति ही भक्ति है। इसमें श्रद्धा और प्रेम के तत्त्वों का योग आवश्यक है। प्रेम की दृष्टि से संत काव्य में नारदी भक्ति के प्रेमतत्त्व के साथ-साथ सूफ़ियों की इश्क भावना का प्रभाव भी लक्षित होता है।
2. सामाजिक चेतना: मध्यकालीन भक्ति काव्य मूलतः सामाकि-सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में सामने आता है। भक्ति आंदोलन ने समाज से अन्त्यजों को सम्मनपूर्वक जीवन यावन करने की आशा का संचार किया। यह मध्यकालीन जागरण, लोक जागरण, भारतीय जागरण अर्थात् जन आंदोलन के नाम से जाना जाता है। विभिन्न वर्ग एवं वर्णों के वितण्डतावादी स्वरूप, वर्ग संघर्ष, धार्मिक भेदभाव, विधि निषेधों से जर्जरित भारतीय जीवन में भक्ति आंदोलन मनुष्य सत्य के स्वप्न को संजोता है।
3. सद्गरु की महत्ता: संत कवियों ने सांसारिक माया के आवरण से अतीत परब्रह्म निरुपाधि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए सद्गुरु क महत्त्व को स्वीकारा है यह सद्गुरु लोक वेद की असारता द्योतित करते हुए ज्ञान रूपी प्रकाश के दीप को प्रज्जवलित करता है। आत्मा ईश्वर से मिलने के लिए व्याकुल है। सात्विक भाव से सारा अंग शिथिल और रोमांचित हो जाता है। पैर आगे नहीं बढ़ते, प्रीति की आशंका से मन अस्थिर हो जाता है।

4.36 सूफी प्रेमाख्यान

सूफी प्रेमाख्यान काव्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है:

1. प्रबंध काव्य रचना: सूफी प्रेमाख्यान मूलतः प्रबंध काव्य रचना के अन्तर्गत आते हैं। इनमें वर्णन ऐतिहासिक भी हैं और अर्द्धऐतिहासिक भी। प्रेमाख्यानों में रचनाकार का मुख्य ध्येय लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से तसव्वुफ के संदर्भ में जीव और परमात्मा से प्रेम व्यापार का वर्णन करना रहा है। इन चरित काव्यों की परंपरा पुरानी है जिसे उद्देश्य के अनुरूप कतिपय पतरवर्तनों के साथ सूफी कवियों ने स्वीकार कर लिया।

नोट्स

2. कथाओं में एकरूपता: सभी सूफी प्रेमाख्यानों में घटनाओं के वर्णन एवं पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के निरूपण का तीरका एक-सा है। इनमें नयापन नहीं है। रोचकता भी नहीं दिखती। कुछ आख्यानों के स्वरूप भेद के कारण पात्रों, प्रसंगों, दृश्यों और वातावरण में नवीनता का संचार कर उनमें प्रेयता व आकर्षण ले आने का प्रयास भी किया गया है। प्रेमी के प्रेम की परीक्षा के संदर्भ सभी प्रेमाख्यानों में एक-से हैं। इसके लिए प्रेमिका की अग्नि-परीक्षा के लिए ऐसी बाधाओं को प्रस्तुत किया जाता है, जिन्हें देखते ही सामान्य धीरज वो, साध्य के प्रति निष्ठा के भाव जरा भी अस्थिरता दिखलाने वाले का हौसला पस्त हो सकता है।
3. सामान्य काव्य रूढ़ियाँ: सभी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में वर्णित काव्य रूढ़ियाँ एक जैसी है। आख्यान विधा की प्रकृति के अनुसार उनमें यत्र-तत्र परिवर्तनल किया गया है लेकिन कथावस्तु की एकरसता में अंतर नहीं आया है। प्रमी-प्रेमिकाओं को प्रायः एक जैसी स्थितियों से गुजरना पड़ा है। मिलन के अवसरों पर भवनों, बगीचों का वर्णन एक जैसा है। कहीं-कहीं परिगणन शैली का भी प्रयोग है। इस कारण कथा के प्रवाह में अवरोध भी दिखता है।
4. समान कथारंभ व समान समापन: सभी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रारंभ एक जैसा है। नायक-नायिका के परिचय के प्रसंग में देश की संपूर्ण विशेषताओं का वर्णन किया गया है। कथा की गति बनाए रखने के लिए भारतीय चरित काव्यों की कथारूढ़ियाँ स्वीकार की गई हैं।

4.37 कृष्णभक्ति काव्य की कथ्यगत विशेषता

कृष्ण काव्य की कथ्यगत विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है:

1. भक्ति का स्वरूप: ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के निर्वासन के बाद शंकराचार्य के मायावाद का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र में बढ़ने लगा था। शंकराचार्य के प्रभाव से भक्ति आंदोलन को धक्का लगा था और जनता में एक तरह की उदासी छा गई थी किन्तु इसी समय भक्ति आंदोलन के मूलाधार प्रकट हुए-वेद, ब्रह्मसूत्र, भगवत् गीता और भगवत। ये चार सूत्र भक्ति आंदोलन के मूलाधार कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति शास्त्र पर लिखे अन्य ग्रन्थों ने भी जैसे 'नारद भक्ति सूत्र', 'शांडिल्य भक्ति सूत्र', 'उज्जवलनील मणि' और 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु' जैसे विशिष्ट ग्रन्थों में भी भक्ति के रसमय स्वरूप का निर्धारण किया गया।
2. वर्ण्य विषय: कृष्ण भक्ति काव्य का मुख्य विषय लीला बिहारी कृष्ण की लीलाओं का गायन रहा है। लीला गायन का आरंभ कृष्ण जन्म से होता है और उसका विस्तार शैशव काल की चेष्टाओं, नटखट क्रीडाओं से लेकर नवल किशोर नवल नागरिया राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं, रास क्रीड़ाओं और फिर कृष्ण के मथुरा गमन के बाद गोपी विरह और यशोदा के विरह तक है। मूलतः इन लीलाओं को श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध से लिया गया है। रासलीला और भ्रमरगीत के प्रसंग के लिए श्रीमद्भगवत का उल्लेख विद्वान इसी कारण से करते हैं।
3. दार्शनिकता: कृष्ण भक्त कवियों के दार्शनिक विचार शुद्धाद्वैतवाद के अन्तर्गत आते हैं। तात्विक दृष्टि से इस शुद्धाद्वैतवाद को ब्रह्मवाद अथवा पुष्टिमार्ग तथा अविकृत परिणामवाद भी कहा जाता है। शुद्धाद्वैतवाद में शुद्ध का अर्थ है माया के संबंध से रहित। इस सिद्धांत के अनुसार माया के

संबंध रहित ब्रह्म ही जगत का कारण और कार्य है। यहाँ ब्रह्मवाद का अर्थ है सब कुछ ब्रह्म का है, जीव ब्रह्म है और जगत भी ब्रह्म रूप है और इसी से ये तीनों सत्य हैं। यहाँ अविकृत परिणामवाद का अर्थ है कि जगत ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है।

4. प्रकृति सौन्दर्य: प्रकृति सौन्दर्य की संवेदना को इन कवियों ने सघन अनुभूतियों से व्यक्त किया है। इनके वर्णन में प्रकृति सदा इनके साथ रही है। प्रकृति और मानव का अनादि साहचर्य इस काव्य की प्रमुख विषेषता कही जा सकती है। प्रकृति के साथ मनुष्य अपने रागात्मक संबंध का विस्तार करता हुआ अनंक रूपात्मक क्षेत्रों में प्रवेश करता है। प्राकृतिक दृश्य के साथ सीधे तादात्म्य से आलंबन रूप में प्रकृति चित्रण उभरा है किन्तु मूलत: इन कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन रूप पर ही अधिक ध्यान दिया है। संयोग और वियोग के क्षणों में इन कविता को प्रकृति उद्दीप्त करती है। प्रकृति के सभी उपमानों को ये कवि एक साथ लाते है। इसलिए प्रकृति का प्रतीक रूप में चित्रण इन्हें आकृष्ट करता है।

4.38 रीतिकालीन काव्यभाषा

रीतिकालीन काव्यभाषा का आधार: रीतिकाल में जिस प्रकार काव्य के वर्ण्य विषय पूर्ववर्ती भक्तिकाल से लिए गए उसी प्रकार काव्यभाषा-ब्रजभाषा भी ली गई। रीतिकाल को

डॉ. रसाल ने 'कलाकाल' कहा है। उनका कथन इस दृष्टि से उपयुक्त है कि इसी काल में भाषा-शैली को कलात्मक सज्जा प्रदान की गई। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुद्ध साहित्य की रचना की दृष्टि से इसे 'अनारोपित काव्यकाल' काल है और डॉ. नगेन्द्र के कथन से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वस्तुत: मुगल दरबार में कलात्मक अभिव्यक्ति को विशेष गौरव प्राप्त था। यही स्थिति देशी राज-दरबारों की थी। वहाँ के दास-दासी भी अलंकृत शैली का प्रयोग करते थे। ऐस स्थिति में कवियों की शिल्प संबंधी सजगता स्वाभाविक थी।

रीतिकाव्य की भाषा मूलत: ब्रजी थी किन्तु उसमें अन्य भाषाओं के शब्दो का ग्रहण उदारतापूर्वक किया गया। इसका कारण यह है कि चिरकाल से मध्यदेश की भाषा ही उत्तर भारत की साहित्य-भाषा बनी हुई थी। शौरसेनी प्राकृत में प्रभूत साहित्य की रचना हुई। शौरसैनी अपभ्रंश का विस्तार पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में गुजरात तक उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र तक हुआ। अत: इस युग के साहित्य में शैरसेनी की बेटी ब्रजभाषा में गुजराती, पंजाब, मैथिली, अवधी, बुंदलखंड़ी, खड़ी बोली और संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, अरबी-फारसी में शब्दों का मुक्त रूप से प्रयोग पाया जाता हैं।

यह कहना उचित नहीं कि रीतिकाल में काव्य शिल्प का संकुचन हुआ। भक्तिकाल की अपेक्षा रीतिका ल में ब्रजभाषा का शब्द-भंडार अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण हुआ। आचार्य भिखारी दास ने 'तुलसी-गंग' के विविध भाषा-प्रयोग की चर्चा की है पर रीतिकाल के कवियों की भाषा भी गुण की दृष्टि से किसी से कम नहीं है। आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन भाषा के व्याकरण सम्मत और परिमार्जित न होने की बात कही है। यह सत्य है कि उस समय भी शब्द-रूप, क्रिया-प्रयोग, वाक्य-विन्यास में त्रुटियाँ प्राप्त होती हैं पर उन्होंने ही मतिराम, बिहारी, पद्माकर और घनानंद की भाषा और शैली की प्रशंसा भी की है। घनांनद की भाषा-शैली की प्रशंसा

नोट्स

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी विस्तार से की है। त्रुटिपूर्ण और असमर्थ भाषा के द्वारा भावों की समर्थ अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। रीतिकाल के कवि मतिराम, देव, बिहारी, घनानंद और पद्माकर जैसे रससिद्ध कवियों ने सवैया, कवित्त और दोहा छंदों में जिस प्रकार प्रौढ़ और प्रांजी भाषा का प्रयोग किया है उसके समक्ष भक्तिकाल के शीर्षस्थ कवि तुलसी की पदावली अनगढ़-सी लगती है।

रीतिकालीन भक्तिकाल

सामान्य जनता में रीतिकाल में भक्तिकाव्य धारा का ही विशेष सम्मान था क्योंकि वह हिम्मत न हारकर हरिनाम के भरोसे जीवन संघर्ष में जुटी हुई थी। कवि भी जीवन का उत्तमांश राजदरबारों में व्यतीत करने के बाद वृद्धावस्था में सामान्य जन बन जाता था। समाज के निम्न वर्णों में संतों और सूफी-भावनाओं का प्रचार चला आ रहा था जबकि सवर्णे में राम-कृष्ण की भक्ति अधिक प्रचलित थी। रीतिकाल में भक्ति की निष्ठा के स्थान पर आडंबर की प्रमुखता हो गई थी। इसी कारण इस युग के भक्तिकाव्य में भक्ति का सहज सरल वर्णन दिखाई नहीं देता। भक्ति रीतिकालीन कवियों की मनोवैज्ञानिक जरूरत है। मनोवैज्ञानिक जरूरत इस अर्थ में कह सकते हैं कि कतव के लिए भक्ति समर्पण की विषयवस्तु नहीं है। उनके लिए भक्ति सांसारिकता से ऊबरकर पलयन का एक रास्ता है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने जीवन के उत्तरार्ध में ही भक्ति काव्य की रचना की। उसमें भी उनका दैन्य और अभाव झलकता है। दूसरे प्रकार की भक्ति के आराध्य राधा और श्रीकृष्णधा हैं। राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंग का सहारा लेकर कवि रसिकता को उभारने का पयत्न करते हैं। जैसे-

"आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

इसके पीछे रीतिकवियों का यह तर्क रहा होगा कि रसिकता का महत्व लौकिक जीवन तक ही सीमित नहीं है, उसका महत्व अलौकिक जीवन में भी है। रीतिकवियों की भक्ति विवेचना के इन सन्दर्भों के अतिरिक्त सांप्रदायिक रूप से भी भक्ति साहित्य की कुछ रचनाएँ मिलती हैं।

संतकाव्य: निर्गुण की उपासना रीतिकाल में अनेक मतों और पंथों की गद्दियों में प्रचलित थी किन्तु भावना की गहराई की अपेक्षा युग के प्रळाव से उसमें प्रदर्शन और आड़बर अधिक हो गया था। यार मुहम्मद ने सन् 1700 ई. के आस-पास हिन्दू-मुस्लिम एकता हो स्थापित करते हुए योग, अध्यात्म की बातों का प्रचार किया। जीवात्मा परमात्मा के विरह-मिलन के प्रसंग में रहस्यात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इन पर सूफियों का भी प्रभाव लक्षित होता है। दूसरे संत बिहार के दरिया साहब थे जिनकी शिष्य परंपरा काफी लंबी थी। इन्होंने बीस ग्रंथों की रचना की।

सूफी काव्य: भक्ति काल में अद्भूत सूफी काव्यधारा रीतिकाल में भी प्रवाहित रही। इस शाखा के कुछ कवियों का परिचय निम्नलिखित है-

- कासिमशाह: कासिमशाह के 'हंसजवाहर' (सन् 1736 ई.) में शहजादा हंस और शहजादी की काल्पनिक प्रेम-कहानी का वर्णन किया गया है। इस पर जायसी के पद्मावत का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है।
- नूरमुहम्मद: नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' (1744 ई.) नामक आख्यानक काव्य की रचना की। इनकी

नोट्स

दूसरी कृति 'अनुराग बाँसुरी' (1764 ई.) है। शुक्ल जी ने इन्हें सूफी परंपरा का अंमि कवि माना है।

- रास-काव्यः रीतिकाल तक आते-आते रामकाव्य में शृंगारी प्रवृत्ति घुलने लगी थी, फलस्वरूप उसका लोकमंगल वाला तत्व कमजोर पड़ने लगा था और लोकरंजन की प्रमुखता हो चली थी।

4.39 पुनरुत्थानवाद की अवधारणा

भारत में नए तरह के उद्योग भी स्थापित हुए। नई तरह की शिक्षा प्रणाली आरंभ हुई। सरकारी कामकाज का यूरोपीय ढाँचा आया। इस तरह भारत में अंग्रेजी राजसत्ता यदि एक ओर परंपरागत सामंतवाद और उद्योगों को नष्ट करने का कारण वनी तो उसने एक नए तरह के सामंतवाद को आरोपित भी किया। वह ऐसा पूँजीवाद लाने का जरिया बना जो पूरी तरह ब्रिटिश सत्ता की दया पर कायत था लेकिन इस पूँजीवाद ने नए वर्गों को जन्म दिया। इस विकास ने भारत का अपना पूँजीवाद वर्ग भी पैदा हुआ और आधुनिक उद्योगों में काम करने वाला मजदूर वर्ग भी। ये दोनों वर्ग भी अपने-अपने हितों के लिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को प्रभावित कर रहे थे।

आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने भारतीय बुद्धिजीवियों में दो तरह की प्रतिक्रियाएँ पैदा कीं। एक ओर यदि वे ज्ञानोदय के आधुनिक मानवतावादी विचारों के संपर्क में आए तो दूसरी ओर वे यह सोचने के लिए भी मजबूर हुए कि क्या भारत सदैव से ही ऐसा ही पिछड़ा और गुलाम देश रहा है। बहुत से अंेज विद्वानों ने जिन प्राचीन भारतीय ग्रंथों की खोज की और उन पर प्रशंसात्मक लेखन किया ससे भारतीय भी प्रभावित हए बिना नहीं रह सके और उन्होंने एक ऐसे प्राचीन भारत की कल्पना की जब भारत यूरोप से ज्यादा आगे बढ़ा हुआ और खुशहाल देश था।

अतीत की ऐसी गौरवशाली कल्पना भारतीय मानस के लिए एक बड़ा बौद्धिक सहारा बनी। इस अतीत में उन्होंने उन सब बुराइयों से मुक्ति पा ली जो वर्तमान भारत में दिखाई देती हैं। इसने उनके आत्मबल को बढ़ाया लेकिन इस सोच के लिए यह भी जरूरी था कि वे यह भी बताते कि आखिर भारत का पतन क्यों हुआ और क्यों वह पराधीन बना हुआ है? इस पतन के लिए उन्होंने उन मुस्लिम शासकों को जिम्मेदार ठहराया जिन्होंने उनके मंदिर तोड़े, उनकी स्त्रियों का अपमान किया और तलवार के बल पर उन्हें इस्लाम स्वीकार करने को मजबूर किया। इस तरह इस पुनरुत्थानवाद ने यदि एक गौरवशाली अतीत की संकल्पना प्रस्तुत की तो एक ऐसा शत्रु भी दिया जिसको वे अपने पतन के लि जिम्मेदार ठहरा सकते थे। इस पुनरुत्थानवाद ने तीसरा काम यह किया कि इसने एक ऐसा समूह पैदा किया जो यह मानता था कि यहद हम उस अतीत को वापस ले आते हैं तो हम अपने गौरव को पुनः पा सकते हैं।

इस सोच का नेतृत्व आर्य समाज जैसे संगठन कर रहे थे और बाद में और अधिक उग्र तथा सांप्रदायिक रूप में उन हिन्दू संगठनों द्वारा सामने आया जो भारत को हिन्दू राष्ट्र के रूप में उभरता हुआ देखना चाहते थे। ठीक ऐसे ही अतीतवादी इस्लामी गौरव को हम मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के रूप में देख सकते हैं।

4.40 छायावाद

नोट्स

छायावादी युग: 'छायावादी' हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट काव्यधारा है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार-"स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह 'छायावाद' है और यह एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है, जीवन के प्रति विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।"

समाप्ति युग का समय सन् 1918 से 1939 तक मान सकते हैं। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति और द्वितीय महायुद्ध के आरंभ के मध्य छायावादी काव्य की विशेष रूप से रचना हुई। सन् 1920 में इस नाम का सर्वप्रथम प्रयोग 'शारदा' में प्रकाशित मुकुटधर पाण्डेय के एक लेख में हुआ। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग इस काव्य की अस्पष्टता दिखाने के लिए व्यंग्यात्मक रूप में किया था। संयोग की बात है कि आगे चलकर स्वयं इस काव्यधारा के कवियों ने इस नाम को अत्यन्त आग्रपूर्वक अपना लिया।

छायावाद की परिभाषा एवं स्परूप: छायावाद की विभिन्न परिभाषाएँ उपलब्ध होती है। यथा-

1. डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार – "परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद हैं"
2. श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के विचार से – "छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।"
3. डॉ. देवराज का कथन है – "छायावाद गीति काव्य है, प्रकृति काव्य है, प्रेमकाव्य है।"
4. डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार – "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है।"

निस्संदेह 'छायावाद' की कोई निश्चित एवं सर्वसम्मत परिभाषा नहीं है। फिर भी हम कह सकते हैं कि छायावादी काव्य में दार्शनिक अनुभूति, सूक्ष्म अभिव्यक्ति, प्रकृति का मानवीकरण, प्रतीकात्मक शैली और गीति तत्त्व की प्रधानता होती है।"

4.41 भारतेन्दु युगीन नाटक

परिनिष्ठित साहित्य के रूप में हिन्दी नाटक का विधिवत विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया। नाटक के माध्यम से एक सुरुचिपूर्ण राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का नवोन्मेष करना उनके नाटक-सृजन का लक्ष्य था। मनोरंजन के साथ-साथ दर्शक को शिक्षा देना भी उनका अभीष्ट था। उन्होंने नाट्य-लेखन और अभिन्य को मनोविनोद के साथ-साथ समाज-सुधार और युगीन नवजागरण से भी जाड़ा। वे यह मानते थे कि नाट्य प्रदर्शनों के माध्यम से समाज-सुधार का आन्दोलन अधिक प्रभावी हो सकत है। सामाजिक या दर्श का उसके यथार्थ को दिखलाकर अधिकाधिक झकझोरा और अपनी दशा को सुधारने की ओर प्रेरित किया जा सकता है। इसी प्रोजन से भारतेन्दु ने अपने युग को सुधारने की ओर प्रेरित किया जा सकता है। इसी प्रयोजन से भारतेन्दु ने अपने युग के विविध धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि प्रश्नों या समस्याओं को अपने प्रहसनों एवं नाटकों में रूपायित किया और पुनरुत्थानमूलक समाध ान प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु और भारतेन्दु मंडल के दूसरे नाटककार मूलत: सुधारवादी थे। समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर इन्होंने अपने समाज की वर्तमान दशा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया। हम जानते हैं कि

नोट्स

लेखक का दृष्टिकोण जब यथार्थपरक होता है तो वह अनिवार्यतः अपने समय के समाज का खुली आँख से देखता है। उसके राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि सभी घटकों में व्याप्त बुराइयों, विकृतियों, अंधविश्वासों का यथा तथ्य रूप प्रस्तुत करता है।

भारतेन्दु युग परतंत्र युग था। उनके समय के नगर, और राष्ट्र में सर्वत्र सभी स्तरों पर रूढ़िग्रस्त पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ कार्यशील थीं। परतंत्र जाति की संकुचनशील मनोवृत्तियाँ भारतीय जीवन को दुर्बल, शक्तिहीन एवं खोखली बनाती जा रही थी। उन्हें देखकर दूरदर्शी हरिश्चन्द्र का अनुभूति प्रवण हृदय बारंबार विकल हो उठता था। इसी विकलता ने उन्हें ऐसी नाट्यकृतियों को सर्जन करने के लिए प्रेरित किया जिनमें भारत का जनवर्ग अपनी ह्रासोन्मुखी गतिविधियों की स्पष्ट, साकार मूर्ति देख सके और उनके रहस्य को समझ कर उनके विरुद्ध विद्रोह करने की दृढ़ता और शक्ति प्राप्त कर सके। इसी अर्थ में वे यथार्थ बोध के नाटककार थे।

4.42 तुलनात्मक भाषाविज्ञान

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अंतर्गत ऐतिहासिक भाषा पद्धति की भी सहायता अंतर्निहित है। जब दो या अधिक भाषाओं या बोलियों की तुलना करते हैं तो उन दोनों ही भाषाओं कग उद्गम भाषा के स्वरूप का पता चलता है। अतः इस नयी भाषा की जानकारी ही भाषा का पुनर्निमाण (त्मबवदेजतनबजपवद) कहलाता है।

आधुनिक भाषाविज्ञान की तुलनात्मक पद्धति का प्रारंभ 1786 में सर विलियम जोन्स द्वारा संस्कृत, ग्रीक, लैटिन भाषाओं के तुलनात्मक अध्यन से हुआ। इसी तुलनात्मक पद्धति के कारण भाषाविज्ञान को 'कम्परेटिव फिलॉलोजी' (ब्वउचंतंजपअम चेपसवसवहल)ए साइंस ऑफ लैंग्वज (बेपमदबम वि संदहनंहम) लिंग्विस्टिक (स्पदहनपेजपब) आदि के नाम से जाना जाता है। 19वीं शताब्दी का काल तुलनात्मक भाषाविज्ञान का स्वर्णकाल रहा है। इस युग के प्रसिद्ध भाषविदों में रास्क, ग्रिम, श्लाइखट, कार्ल ब्रुकमैन आदि ने तुलनात्मक पद्धति का सूत्रपात संस्कृत भाषा की तुलना से हुआ है, अतः इस पर मैक्समूलर कहते हैं-"तुलनात्मक भाषाविज्ञान की एकमात्र दृढ़ आधारशिला संस्कृत है। संस्कृत के ज्ञान के बिअना तुलनात्मक भाषाविज्ञान वैसा ही है जैसा गणित के अभाव में ज्योतिष।"

भाषाविज्ञान की इस पद्धति में वर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक दोनों ही पद्धतियों की आवश्यकता होती है, अतः ये पद्धतियाँ भी भाषाविज्ञान की आधारभूत पद्धतियाँ तुलनात्मक भाषा पद्धति के द्वारा भाषा के सभी अंगों का तुलनात्मक अध्ययन किय जा सकता है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान को इसी कारण व्यतिरेकी (ब्वदेजतेंजपअम) पद्धति भी कहते हैं। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए भौगोलिक संदर्भ के साथ ही ऐतिहासिक और सांस्कृतिक घटनाओं का ज्ञान होना अपेक्षित है। भाषाओं की इस तुलना में ध्वनि, शब्द और व्याकरण की समानताओं का पता लगाते हैं। उदाहरणस्वरूप-

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	आयरिश
मातृ (माता)	मातेर	मेतेर	माथिर
पितृ (पिता)	पेतेर	पतेर	

इस आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि ये भाषाएँ एक ही परिवार की रही हैं। तुलनात्मक

भाषाविज्ञान के द्वारा इसका विश्लेषण कर इसके मूल शब्द तक पहुँचा जा सकता है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर पुनर्रचना के संदर्भ से शब्द के मूल रूप तक पहुँचने का प्रयास इससे किया जाता है। इस परिवार कल्पना को ध्वनि विकास की प्रवृत्तियों के साक्ष्य से प्रमाणित तौर पर पुष्ट किया गया। इस क्रम में इस तथ्य पर ध्यान देना अनिवार्य है कि शब्द के व्याकरणिक रूप और व्याकरणिक अर्थ समान हों। इसी आधार पर कई भाषाओं को एक पारिवारिक मूल की भाषा माना जा सकता है।

भाषा और बोली।

समाजभाषाविज्ञान (स. भा. वि.) वह विज्ञान है जो समाज के परिप्रेक्ष्य में प्रयोग होने वाली भाषा/भाषाओं के रूप या रूपों का नियमित रूप से अध्ययन एवं विश्लेषण करता है।

समाजभाषाविज्ञान की यह कोशिश रहती है कि वह यह जान पाए कि किसी भी समाज में भाषाई संप्रेषण होता कैसे है? वे कौन से भाषिक नियम हैं जो समाज में रहने वाले स्त्री-पुरुष बड़े और बच्चे बिना किसी गलतफहमी के पूर्ण संप्रेषण के लिए प्रोग कर पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि समाजभाषाविज्ञान यह मानकर चलता है की मात्र भाषा के 'व्याकरण' का ज्ञान काफी नहीं है, परन्तु उस भाषा के प्रयोग के नियम जो कि एक विशेष सामाजिक संदर्भ में अपनाए जाते हैं-का जानना ही सही मायनों में भाषा के व्याकरण को जानना है। इस विज्ञान की धारणा है कि कोई भी उच्चरित वाक्य बिना किसी सामाजिक संदर्भ के नहीं होता। अतः समाजभाषाविज्ञान किसी भी समाज में संप्रेषण के लिए प्रयोग में आने वाली भाषा/भाषाओं का नियमित रूप से अध्ययन करता है। यही कारण है कि इस विज्ञान का सारा जोर चॉम्स्कीय 'भाषा दक्षता' की अपेक्षा 'संप्रेषण की दक्षता' पर है।

भाषा वैविध्य-वैविध्य याने विविधता। भाषा समाज में विविध रूपों में हमारे सामने आती है। शायद ही संसार की कोई भाषा हो जो सिर्फ निश्चित रूप में प्रकट होती हो। भाषा वैविध्य का अध्ययन समाजभाषाविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य है।

शायद आप सब इस कहावत से परिचित हैं-"चार कोस पर बदले पानी आठ कोस पर बानी।" यानी भौतिक दूरी के कारण भाषा के रूप में परिवर्तन समाजभाषाओं का बुनियाद सिद्धांत है। इस संदर्भ में भाषाविज्ञान (याने भाषा के व्याकरण) और समाजभाषाविज्ञान में मूलभूत तर है। भाषाविज्ञान भाषा के एक कल्पित मानक रूप का वर्णन करने का यत्न करता है। भाषा की विविधता को एक ही व्याकरण में समेटना व्याकरण के लिए असंभव है। विख्यात भाषावैज्ञानिक चॉम्स्की कहते हैं कि एक आदर्श मातृभाषी के मन से स्थित भाषाई क्षमता का वर्णन-विश्लेषण ही भाषाविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र है। इसमें उन्होंने भाषा की विविधताओं को समेटने का कोई उपक्रम नहीं किया।

समाजभाषाविज्ञान, इसके विपरीत 'भाषा' को व्यापक पटल में, उसकी समस्त बोलियों और शैलियों के समग्र रूप में देखने का यत्न करता है। भाषा में वैविध्य के प्रमुखतः दो आधात हैं-क्षेत्रीय बोलियाँ और आयु, पेशा, लिंग आदि विभिन्न वर्गों के भाषा व्यवहार के कारण उत्पन्न सामाजिक बोलियाँ। इस प्रकार हर व्यक्ति की भाषा में उसकी क्षेत्रीयता, लिंग, आयु, पेशा आदि कारकों से हर दूसरे व्यक्ति से भिन्न रूप दिखाई देता है। समाजभाषाविज्ञान व्यक्ति के भाषा रूप को उसकी व्यक्तिबोली (पकपवसमबज) की संज्ञा देता है यह उस व्यक्ति का अपना कोड (बवकम) है। समाज के सभी व्यक्तियों की व्यक्तिबोलियों

नोट्स

का समग्र ही भाषा है इसे व्यक्तिगत कोडों के समग्र के अर्थ में कोड आधात्री (बवकम उंजतपग) कहा जाता है।

अर्थ-परिवर्तन

अर्थ परिवर्तन की तीन प्रमुख दिशाओं का वर्णन निम्नलिखित है-

1. अर्थ विस्तार-इसमें शब्द के मूल अर्थ का विस्तार होता है और शब्द का अर्थ व्यापक संदर्भ में प्रयुक्त होता है। 'तेल' का मूल अर्थ था तिल से प्राप्त तैल। अब हम इसका प्रयोग सभी तेलों के लिए करते हैं। आज पेट्रोल भी 'तेल' कहा जाता है। इस तरह के अन्य शब्द कुशल (कुश लाने में होशियार व्यक्ति, हर काम में निपुण व्यक्ति) स्याही (काली स्याही, सब रंगों की स्याही), पशु (गोधन, सभी जानवर), प्रवीण (वीणा बजाने में कुशल, हर कार्य में कुशल) । भाषा के मुहावरेदार प्रयोग अर्थ विस्तार के ही उदाहरण हैं। अब हम कार्यालय के मिंक की बात करते हैं। मंत्रालय के स्कंध, खिड़की का पल्ला, बैंक की शाखा आदि शब्द विस्तृत अर्थ में मुहावरेदार प्रयोग हैं। हम सहज ही ऐसे सैकड़ों शब्दों का निर्माण करते हैं।
2. अर्थ संकोच-इस प्रक्रिया में मूल अर्थ सिकुड़कर सीमित अर्थ देता है। संस्कृत में 'मृग' काट अर्थ था प्राणी, जानवर। इसी अर्थ में हम सिंह को मृगराज कहते हैं। आज यह अर्थ सीमित ढंग से केवल 'हिरन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में उमंज खाद्य पदार्थ का अर्थ देता था, अब केवल 'मांस' का अर्थ देता है। ऐसे अन्य कुछ उदाहरण देखिए-धान (ढ धान्य) (अनाज, चावल की फसल)। अर्थ संकोच का एक प्रमुख कारण है। जब विदेशी भाषाओं से शब्द आते हैं, तो भाषा में दो पर्याय हो जाते हैं। उस स्थिति में उनमें अक्सर अर्थ बँट जाते हैं या संदर्भ अलग हो जाते हैं। अब हम डॉक्टर और वेद्य में अंतर करते हैं। 'दरिया' का मूल अर्थ 'नदी आदि जलाशय' था लेकिन आज इसे हम सिर्फ 'सागर के अर्थ मं प्रयुक्त करते हैं।'
3. अर्थादेश-इस शब्द का अर्थ है 'अर्थ बदल जाना'। संस्कृत में 'दुहिता' का अर्थ था 'गाय दुहने वाली'। अब यह 'पुत्री' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अक्सर शब्द का विपरीत अर्थ में भी प्रोग होने लगता है। संस्कृत में असुर का अर्थ था 'देव', अब वह दानव का अर्थ देता है। और सादृश्य के कारण उससे 'सुर' शब्द बना लिया गया है। 'राग' का अर्थ प्रेम है, बांगला में हर 'क्रोध' का अर्थ प्रकट करता है।

अर्थो के परिवर्तन को विद्वान अर्थोत्कर्ष (उत्कृष्ट अर्थ देना) और अर्थापकर्ष (निकृष्ट अर्थ देना) जैसी मूल्यपकर प्रक्रियाओं से भी व्यक्त करते हैं। संस्कृत में 'साहस' का अर्थ था 'अनाचर'। आज उसके अर्थ में उत्कर्ष हुआ है और 'साहस' एक गुण है। हिंदी में पोंगा, लुच्चा (ढ लुंचित व्यक्ति, मुनि) अर्थापकर्ष के उदाहरण हैं।

4.43 राष्ट्रभाषा और राजभाषा

राष्ट्रभाषा का शाब्दिक अर्थ राष्ट्र की भाषा अर्थात् वह भाषा जिसका संपूर्ण राष्ट्र में प्रयोग होता है। जब किसी देश की कोई बोली/भाषा आदर्श बनकर मानक रूप ग्रहण कर लेती है तो अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है। फलतः पुरे राष्ट्र में तथा अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में सार्वजनिक कामों में उस भाषा का प्रयोग

होने लगता है और वही भाषा राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है।

नोट्स

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का अनुभव तब विशेष रूप से कियाजाने लगता है, तब राष्ट्रीयता के विकास के साथ राष्ट्रभाषा को राष्ट्रीय एकता के प्रतीकों में सम्मिलित कर लिया जाता है। भावनात्मक एकता के लिए जब भाषा का महत्व प्रतिपादित किया गया है तो राष्ट्रभाषा का स्वरूप स्पष्ट हुआ। यही बात हिंदी के संदर्भ में तब सार्थक सिद्ध हुई जब हिंदी अपनी सार्वभौमिकता, व्यापकता, सरलता और सर्वप्रियता के कारण राष्ट्रभाषा के रूप में उनके द्वारा स्वीकृत की गई जो हिंदी भाषा-भाषी नहीं थे। डॉ. हरदेव बाहरी ने राष्ट्रभाषा के रूप में उनके द्वारा स्वीकृत की गई जो हिंदी भाषा-भाषी नहीं थे। डॉ. हरदेव बाहरी ने राष्ट्रभाषा की संकल्पना स्पष्ट करते हुए इसकी तीन संभावनाएँ हैं-

1. कोई एक बोली।

2. अनेक बोलियों का मिश्रण।

3. देश में अनेक बोलियों में से किसी एक में अन्य बोली का मिश्रण।

'राष्ट्रभाषा' के चुनाव में राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता, क्षेत्रीय धारा लोकवादी जनतांत्रिक धारा सहायक सिद्ध होती है। संप्रभुता की पहचान राष्ट्रीय प्रतीकों के माध्यम से होती है-राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगान, राष्ट्रचिह्न तथा राष्ट्रभाषा स्वाभिमान के प्रतीक हैं। देश की भाषा ही स्वाभिमान, आत्मविश्वास प्रकट करती है जिसके माध्यम से देश की एकता व अखंडता का प्रतीकात्मक उद्घोष होता है। राष्ट्रभाषा के बिना देश की अस्मिता कुंठित हो जाती है, राष्ट्र गूँगा हो जाता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि राष्ट्रभाषा का सीधा संबंध राष्ट्र की अस्मिता से है।

देश के सभी भागों में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई जिनमें मद्रास में स्थापित दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा (अब इसके क्षेत्रीय स्नातकोत्तर केंद्र-हैदराबाद, धारवाड़, एरणाकुलम), वर्धा में स्थापित सभ, केरल हिंदी प्रचार सभा, तिरूवन्तपुरम, हैदराबाद की आंध्र हिंदी प्रचार सभा, कर्नाटक महिला हिंदी सेवा समिति, बैंगलूर, कर्नाटक प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, बेलगाम आदि मुख्य हैं। इसी प्रकार सूदूर उत्तर-पूर्व में हिंदी का व्यापक रूप से प्रसार हुआ।

राजभाषा-राजभाषा का अर्थ राजकाज की भाषा राजकीय कार्य चलाने की भाष। भाषा का वह रूप 'राजभाषा' है जिसके द्वारा राजकार्य चलाने में सुविधा हो। 'राजभाषा' शब्द प्राचीन नहीं है। यह तो 'संविध ान' में राजकाज चलाने की भाषा संबंधी अनुच्छेद-343 से 351 तथा अष्टम अनुसूची के जुड़ जाने से 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा जो वस्तुतः वंपिबपंस संदहनंहम ऑफीशियल लैंग्वेज शब्द का अनुवाद मात्र है अन्यथा इससे पूर्व 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता था। काफी समय राजनेताओं को भी यही भ्रम रहा कि हिंदी ही राष्ट्रभाषा पद पर आसीन हो गई है। लेकिन अब स्पष्टतः 'राजभाषा' तथा 'राष्ट्रभाषा' में भेद किया जाता है 'राजभाषा' प्रशासनिक प्रयोजनों तथा आर्थिक विकास के लिए काम में आती है जबकि 'राष्ट्रभाषा' सामाजिक अस्मिता तथा राष्ट्रीय संप्रभुता को द्योतित करती है।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी अंग्रेजी की भाँति प्रशासन के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए प्रयुक्त की जाती है जबकि राष्ट्रभाषा के रूप में आने वाली हिंदी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता की भाषा बनी हुई है।

प्रश्न 8: भारत में हुए भाषा चिंतन के संदर्भ में पद विचार की व्याख्या करते हुए व्युत्पत्ति निरूपण

नोट्स

को स्पष्ट करें?

उत्तर: 'शब्द' अखंड है फिर भी विश्लेषण सौकर्य के लिए वाक्य-पदर-प्रकृति प्रत्ययों की संकल्पना की जाती है। पदों का समूह वाक्य बनाता है किंतु पद स्वयं प्रकृति प्रयत्यों से बनते हैं।

पाणिनीय सूत्र पद के स्वरूप को स्पष्ट करता है। सभी पद विभक्तिप्रत्यन्त होते हैं-पदों में एक अंश 'प्रकृति' कहा जाता है और दूसरा अंश प्रत्यय (विभक्ति-प्रत्यय)। यदि प्रकृति धातु है तो 'तिङ्' प्रत्यय लगते हैं, यदि प्रकृति 'धातु भिन्न' (जैसे संज्ञा, सर्वनाम आदि) है तो 'सुप्' प्रत्यय लगते हैं। धातु निम्न प्रकृति को प्रातिपदिक कहते है।

संस्कृत व्याकरण में पाणिनी के अनुसार सुप् और प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं। सुप् प्रत्यय जिस प्रकृति में लगता है वह 'प्रातिपदिक' कहा जाता है जिसकी परिभाषा पाणिनी द्वारा दी गई। यह मूल (सरल) या यौगिक हो सकता है। यौगिकता का माध्यम है-कृदन्त, तद्धितान्त या समास से संमस्त पद बनना।

व्युत्पत्ति निरूपण-व्युत्पत्ति निरूपण के क्षेत्र में जितना व्यापक एवं गंभीर चिंतन-मनन प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा हुआ है उतना किसी भी देश या भाषा में आज तक नहीं हुआ है। इस अध्ययन कार्य में कोई बौद्धिक विलासिता नहीं है अपितु एक व्यावहारिक अनिवार्यता है। बिना 'अर्थ' समझे यज्ञ-यागादि का फल नहीं मिलता है और सही-सही अर्थ जानना ऋषियों के लिए भी एक दुष्कर कार्य था। 'मंत्रदृष्टार: ऋषिगण भी कालत: दूरस्थ या अतिदूरस्थ थे।' इस कारण एक पूरे-के पूरे वेदांग 'निरुक्त' को यह दायित्व सौंपा गया। सर्वप्रथम निघण्टु में कठिन और उपरिचित शब्दों के सही-सही अर्थ ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया गया और आगे चल कर नैरुक्तों ने अर्थ निर्वचन की जटिल प्रक्रिया विकसित की।

निरुक्त ज्ञान-विज्ञान की वह शाखा थी जो शब्दों की व्याख्या अथवा निर्वचन करती थी। निर्वचन के दो पक्ष होते हैं-'शब्द' और 'अर्थ'। शब्द का, व्युत्पत्ति-नियमों के द्वारा प्रकृति और प्रत्ययों में विभाजन किया जाता है और तत्पश्चात् वेद मंत्रानुकूल अर्थ स्पष्ट किया जाता है।

निरूक्त के परास में वे शब्द नहीं आते हैं जिनका अर्थ स्वयं प्रकृति-प्रत्यय विभाजन से ही पारदर्शी रीति से निकल आता है। वे शब्द कभी-कभी आ जाते हैं जिनके अर्थ, प्रकृति-प्रत्यय विभाजन मात्र से स्पष्ट नहीं हो जाते हैं। और निर्वचन का आश्रय लेना पड़ता है, और वे शब्द निरूक्त के क्षेत्र के ही हैं जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट और अनुमान गम्य नहीं है। इस तीसरी कोटि के शब्दों का विवेचन (1) इनसे मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दों के माध्यम से किया जाता है और यहाँ अर्थ एवं ध्वनियों के साम्य को विवेचन का आधार बनाया जाता है। 'अर्थ साम्य' के निश्चय क लिए दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है-(1) विवेच्य शब्द की प्रसंगानुकूलता और (2) विचेच्य शब्द और जिस शब्द के उसका संबंध स्थापित किया जा रहा है उन दोनों के बीच किसी अर्थ वैशिष्टय की समानता। ध्वनि साम्य के निश्चयन के लिए विवेच्य शब्द और जिस शब्द के साथ उसका संबंध स्थापित किया जा रहा है उनमें किंचित् ध्वनि समानता होनी चाहिए। यदि ध्वनि समानता स्पष्ट नहीं है तो ध्वनि रूपांतरणों के विचित्र रीति से खोज नियमों के अनुसार उनमें ध्वनि साम्य संबंध विद्यमान होना चाहिए। ये ध्वनि रूपांतरण, अभी हाल के 'जनरेटिव फोनालोजी' के ध्वनि रूपांतरणों से कही अधिक प्रयोज्य एवं संगत हैं।

4.44 हिन्दी शब्द की उत्पत्ति एवं विकास

नोट्स

हिन्दी की उत्पत्ति और विकास की लम्बी प्रक्रिया है। 1000 ई. के लगभग जब अपभ्रंश युग अपनी समाप्ति पर था तो दूसरी ओर शौरसेनी अपभ्रंश से हिंदी का स्वरूप निर्मित हो रहा था। महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी, शौरसेनी इत्यादि प्राकृतों में हिंदी के उद्‌भव और विकास की दृष्टि से शौरसेनी का सर्वाधिक महत्त्व है। ब्रज और खड़ी बोली के विकास में इसकी महत्त्वपूर्ण देन है। तब से लेकर अब तक हिन्दी भाषा के इतिहास को क्रमशः आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल के तीन सोपानों द्वारा विभाजित किया जा सकता है-

1. आदिकाल : 1000 ई. से 1500 ई. तक
2. मध्यकाल: 1500 ई. से 1800 ई. तक
3. आधुनिक काल : 1800 ई. से आज तक।

हिन्दी शब्द फारसी का है जिसका अर्थ है हिन्द अथवा भारत की बोली। परन्तु आज यह शब्द भारत की हर किसी बोली अथवा भाषा के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यह हिन्दी का प्राचीन व्यापक अर्थ है। जो अलबरूनी, अमीर खुसरो और अबुल फजल ने ग्रहण किया। आज इसका प्रयोग साधारणतया उत्तरी भारत के एक विशिष्ट भू-भाग के हिन्दुओं की साहित्यिक भाषा तथा इसी भू-भाग की प्रादेशिक बोलियों और उनमें संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में लिया जाता है।

हिन्दी शब्द वैदिक संस्कृत पालि प्राकृत और अपभ्रंश में नहीं मिलता अतः यह ज्ञात होता है कि यह ईरानियों की देन है। 500 ई.पू. ईरानी सम्राट दारा के अभिलेखों में हिंदू शब्द भारत देश के लिए प्रयुक्त हुआ है। यदि हिंदू मूलरूप से संस्कृत शब्द सिंधु का फारसी रूपान्तर है क्योंकि संस्कृत में 'स' का उच्चारण फारसी में 'ह' के रूप में होता है। जैसे-असुर-अहुर इत्यादि। इस प्रकार 'इ' पर बलाघात होने पर तथा 'उ' का लोप होकर 'हिंदी' का विकास हुआ।

भाषाविज्ञान की पाश्चात्य परंपरा

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भाषाविज्ञान का सूत्रपात अमरीकी भाषा वैज्ञानिक ब्लूमफील्ड तथा जेनेवा स्कूल के फर्डिनेंड द सस्यूर से माना जा सकता है। इस युग में भाषा को अर्जित वस्तु मानकर समाज में उपस्थित भाषिक परिवर्तनों को ग्राह्य माना गया तथा व्याकरण को प्रमुखता देने की आवश्यकताओं से इनकार किया है। ध्वनि अर्थ को भाषा के क्रमशः बाह्य और आंतरिक तत्त्व के रूप में मानते हुए पृथक अध्ययन पर गौर किया गया। भाषाओं का अध्ययन अब पद से आगे बढ़कर वाक्य और वाक्य से आगे प्रोक्ति तक पहुँच गया। अतः भाषाविज्ञान के अध्ययन का सफर व्याकरण संबंधी आरंभिक प्रयोगों से शूरू होकर आज समाज के अंतर्गत होने वाले सभी प्रकार के भाषिक प्रभावों के अध्ययन तक विस्तृत हो गया है। सस्यूर के पश्चात आधुनिक भाषाविज्ञान के अनेक स्कूल स्थापित हुए हैं, जिन पर कहीं न कहीं संस्कृत का प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है- जर्मनी स्कूल, फ्रांसीसी स्कूल, ब्रिटिश स्कूल, रूसी स्कूल, डेनमार्क स्कूल, अमेरिका स्कूल, ब्लूमफील्ड स्कूल, चॉम्स्की स्कूल, हावर्ड स्कूल आदि।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान-जिस पद्धति के अंतर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं की ध्वनियों, पदों, शब्दों, वाक्यों, रूपों एवं अर्थों आदि भाषा अवयवों की परस्पर तुलना करते हुए वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत

नोट्स

किया जाता है, तुलनात्मक भाषा अध्ययन पद्धति कहलाता है। इसी कारण भाषाविज्ञान को तुलनात्मक भाषाविज्ञान भी कहा जाता है। इस अध्ययन पद्धति के अंतर्गत समकालिक एवं ऐतिहासिक भाषा सामग्री की भी आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में आधुनिक भाषाविज्ञान का जन्म ही तुलना के रूप में हुआ है। इस तुलना ने विभिन्न भाषायी समाजों के बीच की समानता को प्रस्तुत किया है, अत: भाषा परिवार का वर्गीकरण भाषा की तुलनात्मक पद्धति के कारण ही संभव हो सका तो ऐतिहासिक पद्धति ने इस तुलना के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराई।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान का महत्त्व भाषा शिक्षण के संदर्भ में भी कम नहीं है। विभिन्न भाषाओं की प्रकृति की जानकारी हमें इसी विशेषण पद्धति से मिलती है। संस्कृत, हिंदी, लैटिन और ग्रीक भाषाओं की समानता को प्रदर्शित करने के लिए उदाहरण द्रष्टव्य है–

इसी प्रकार अनेक शब्दों की समानता से तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा व्हिटनी महोदय ने अपनी पुस्तक स्दहनंहम दक पजे जनकल में स्वकार किया है कि भाषाविज्ञान का विज्ञान के रूप में प्रारंभ ही संस्कृत के यूरोप में प्रवेश करने के बाद हुआ।

4.45 पिजिन और क्रियोल में अंतर

पिजन एक संक्रमण प्रक्रिया से उत्पन्न भाषा है, जो बहुभाषिक समुदाय के परस्पर संपर्क का परिणाम है। पिजन दो भाषाओं के संपर्क से अद्‌भूत वे भाषाएँ हैं जो भाषिक समुदाय में परस्पर विचार-विनिमय की प्रबल आवश्यकता के कारण दोनों समूह अपनी-अपनी भाषाओं को व्याकरणिक संरचना की शुद्धता की प्रति दुराग्रह त्यागकर पारस्परिक बोधगम्यता (उनजनंस पदजमससपहपइपसपजल) के लिए जिस भाषाको जन्म देते हैं उसकी संरचना उसकी अपनी मूल भाषाओं की संरचना से कहीं अधिक सरल ओर संक्षिप्त होती है। भाषा के इसी रूप को पिजन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

पिजन का जन्म संप्रेषणीयता की आवश्यकता के कारण होता है और चूँकि संप्रेषणीता की आवश्यकता एक निश्चित रूववहार क्षेत्र तक ही सीमित रहती है अत: यह किसी की भी मातृभाषा बनने में असमर्थ होती है। यह एक भाषा के दबाव के फलस्वरूप उत्पन्न सरलीकृत भाषा है, अत: यह एक मिश्रित भाषा नहीं है। इस प्रकार जब यही 'पिजन' किसी क्षेत्र में बहुप्रचलित होकर मातृभाषा के रूप स्वीकृत हो जाए तो वह 'क्रियोल' कहलाती है। क्रियोल एक प्रकार की आवश्यकताजन्य भाषा है, जो 'पिजन' के रूप में उत्पन्न होकर प्रगति के चरमोत्कर्ष 'क्रियोल' का रूप धारण करती है। यहाँ क्रियोल का अपना जनसमुदाय होता है तथा इसके मानकीकरण का प्रश्न उपस्थित होता है। अत: जहाँ पिजन को कोई भाषा न कहकर भाषा रूप कह सकते हैं। जबकि क्रियोल का रूप धारण करती है। यहाँ क्रियोल का अपना जनसमुदाय होता है तथा इसके मानकीकरण का प्रश्न उपस्थित होता है। अत: जहाँ पिजन को कोई भाषा न कहकर भाषा रूप कह सके हैं। जबकि क्रियोल एक भाषा होती है। उदाहरणस्वरूप, पिजन भाषा के रूप चीनी पिजिन अंग्रेजी मलेशियन पिजिन अंग्रेजी, बम्बइया हिन्दी कलकतिया हिंदी आदि एवं क्रियोल के रूप में कैलिफॉर्निया की गुहाल अंग्रेजी तथा मॉरीशस को होशियन फ्रांसीसी आदि।

4.46 विज्ञापन की भाषा

विज्ञापन का मुख्य उद्देश्य है वस्तु की विक्रय शक्ति को बढ़ाना। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए भाषा को नाना प्रकार से सजाकर आकर्षक बनाया जाता है। उदाहरणतया विज्ञापनकर्ता विज्ञापन की भाषा को उपमा, अलंकार, मुहावरों, लोकोक्तियों व तुकबंदियों से सजाता है एवं कई नए-नए प्रयोग करता ह। विज्ञापन की भाषा एक तरफ तो विशेषणों और क्रिया विशेषणों से भी होती है और दूसरी ओर निवेदनार्थक और निश्चयार्थक भी होती है। हिंदी के 'कल' शब्द का जो कि भूत और भविष्य दोनों के लिए प्रयोग होता है। उदाहरण देखिए-

'कल भी, आज भी, कल भी' (यह टच्ै नपजबेंम का विज्ञापन है) बहु ही सुंदर और संक्षिप्त।

प्राय: विज्ञापन क्रियापवहीन होते हैं और इसलिए सारा जोर संज्ञा-पद पर होता है। आश्चर्य नहीं क संज्ञा-पद अक्सर लम्बे-लम्बे होते हैं। उदाहरणतया-

1. 'फैशनेबल महिलाओं की एक ही पसंद...विपुल साड़ियाँ'
2. 'कीमत में 20 प्रतिशत काम पर काम में वैसा ही उत्तम'
3. 'भला उसकी साड़ी मेरी साड़ी से सफेद कैसे?-सुपर रिन का कमाल'।

संरचनात्मक भाषा

संरचनात्मक भाषाविज्ञान का भाषाशिक्षण पर प्रभाव-भाषा तत्त्वों की व्यवस्था से संबंधित व्याख्या को संरचनात्मक भाषाविज्ञान कहते हैं। संरचनात्मक भाषाविज्ञान के अंतर्गत संरचनात्मक पद्धति से विवरण के आधार पर भाषा का विश्लेषण किया जाता है। भाषा की संरचना उसके अंगों तथा तत्त्वों से होती है। ध्वनि, शब्द, वाक्य तथा अर्थ भाषा के अंग है। संरचनात्मक भाषा विज्ञान भाषा के अंगों का विश्लेषण करता है। अत: भाषा शिक्षण के लिए सर्वाधिक आवश्यकता भाषा के रूप का ज्ञान हाना है। भाषा अधि गम (स्मंतदपदह) के दो आयाम हैं-पहला, भाषा के संरचना संबंधी नियमों की क्षमता, जिससे वक्ता संरचनात्मक दृष्टि से सही वाक्यों की रचना कर सके। दूसरा, उनके प्रयोग संबंधी नियमों की दक्षता, जिससे वक्ता अपने भावों को सामाजिक संदर्भ में सही रूप से अभिव्यक्त कर सके। पहले का संबंध, भाषिक संरचना की क्षमता से है तथा दूसरे का संबंध भाषा प्रयोग से।

भाषा प्रतीकों की व्यवस्था है। इस व्वस्था का विश्लेषण ही संरचनात्मक भाषाविज्ञान का क्षेत्र है। भाषाविज्ञान के संदर्भ में व्यतिरेकी विश्लेषण दो भाषाओं के बीच के संबंधों को विश्लेषित कर भाषा सीखने में सहायता करता है। भाषिक संरचना को मातृभाषा भाषी बिना व्याकरणिक-व्यवस्था को समझे अधिगम कर लेता है। उसे भाषा की संरचना का ज्ञान भी रहता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे संरचनात्मक भाषा विश्लेषण के द्वारा समझा जा सकता है। अन्य भाषाशिक्षण के लिए सबसे आवश्यकता वस्तु सीखने वाली भाषा की संरचनात्मक व्यवस्था को जानना है। साथ ही प्रयोग की भाषा और सीखने की भाषा के आपसी संबंधों को दर्शाने वाली प्रक्रिया के द्वारा भाषाशिक्षण का कार्य पूर्णत: संपन्न हो सकता है। यदि भाषिक संरचना का ज्ञान नहीं होगा तो वाक्यों की रचना करते समय अशुद्धि हो जाएगी।

-मैंने आज वहाँ नहीं जाना।

नोट्स

--तूने वह काम क्यों न करी?

उपर्युक्त वाक्य भाषा में स्वीकार्य नहीं है क्योंकि कहीं भाषिक नियमों का उल्लघंन है तो कहीं वाक्यों के मानक प्रयोग का ध्यान नहीं रखा गया है। संरचनात्मक भाषाविज्ञान ने भाषा शिक्षण के लिए एक विस्तृत सुविधाजनक द्वारा खोल दिया है।

4.47 भाषा और सामाजिक संदर्भ

भाषा एक सामाजिक व्यवहार है। समाज में व्यक्ति परस्पर वार्तालाप के संदर्भ में भाषा का प्रयोग करता है, किन्तु भाषा केवल वार्तालाप का साधन ही नहीं है वरन् एक व्यक्त संशोधन है जो समाज के अंतर्गत सभी प्रकार के कार्य-व्यापारों, आपसी संबंधों आदि का प्रकटीकरण करता है। समाज का निर्माण परिवार से होता है तथा परिवार व्यक्ति से बनता है। अतः समाज की न्यूनतम इकाई व्यक्ति के आपसी संबंधों को भाषिक कोड देने तथा रिश्ते-नाते के लिए प्रयुक्त इकाई व्यक्ति के आपसी संबंधों को भाषिक कोड देने तथा रिश्ते-नाते के लिए प्रयुक्त संबोधन शब्दों की आवश्यकता को भाषा पूरी करती है।

संबोधन के शब्द--भाषा सामाजिक संबोधनों की आवश्यकता को पूरी करती है। ये संबंध औपचारिक तथा आदरसूचक भी हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य है कि किसी अनजान व्यक्ति से अगर समय पूछना हो तो संबोधित करेंगे-'भाई साहब', 'भइया', 'बहनजी', 'माताजी', 'महाशय', 'अंकाल', 'आंटी' आदि।

इसी प्रकार भाषा में जब प्रयुक्त स्तर के कार्यालयी पत्र संविदा, आमंत्रण, निविदा आदि में श्रीमती, श्रीमान, महाशय महोदय आदि संबोधनों का प्रयोग होता है।

नाते-रिश्तेदारों के लिए प्रयुक्त संबोधन-समाज में मनुष्य के आपसी रिश्तों तथा संबंधों के लिए भाषा में विशिष्ट संबोधन कोडो का इस्तेमाल होता है सामाजिक संदर्भ मं रिश्ते का महत्त्व बताते हुए रेडक्लिफ ब्राडन तथा डेरिज फोर्ड का कहना है कि रिश्तों की व्यवस्था सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था है जिसे पूरी सामाजिक संरचना का एक अंग माना जा सकता है। एक-दूसरे से संबंधित व्यक्तियों के पारस्परिक कर्त्तव्य एवं अधिकार इस व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस प्रकार रिश्ते को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है तथा जन्म, विवाह और मृत्यु-इन तीनों के आधार पर संबंध-व्यवस्था समाज को नियंत्रित करती है।

रिश्ते की व्यवस्था के मूल में परिवार होता है। जन्म के द्वारा एक बच्चे का उससे संबंधित व्यक्तियों से संबंध स्थापित होता है तथा वह केवल जन्म लेने से ही कई व्यक्तियों के साथ भाई, भाँजे, भतीजे, पुत्र आदि का स्थान ग्रहण कर लेता है। वयस्क होने पर विवाहादि के उपरांत रिश्तों में बढ़ोत्तरी होती है तथा ससुर, सास, साला, साली आदि रिश्तेदारों के संबोधन की शब्दावली का प्रयोग होता है। मृत्यु का रिश्तेदारों के कर्त्तव्य और अधिकार के रूप में संबंध होता है। परिवार में एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर अन्य संबंधियों के बीच अलग-अलग कर्त्तव्यों के बोध को देखा जा सकता है।

अंतः भाषा-व्यवहार के अंतर्गत रिश्ते-नाते के शब्दों का भी कम महत्त्व नहीं है। यह प्रयोग सामाजिक व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को रेखांकित करता है तो समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के संबोधन संबंधी शब्दों की विभिन्नता को भी प्रकट करता है।

4.48 सार्वभौमिक व्याकरण

संसार का प्रत्येक मानव भाषा का प्रयोग करता है। प्रत्येक भाषिक समुदाय में भाषा संप्रेषण के रूप में स्वनिम, रूपिम की एक व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भाषा व्यवहार तथा भाषा सीखने की प्रवृत्ति मानव का जन्मजात गुण है। अतः भाषा-व्यवहार एवं भाषा-व्यवहार के रूप में इसे सार्वभौम कहा जा सकता है। कारण, प्रत्येक भाषा की आंतरिक संरचना के घटकों में कुछ समानता होती है। इस प्रकार मानसिक क्षमता को महत्त्व देते हुए चॉम्स्की ने वाक्य में सार्वभौम तत्व की बात कही। वे मानते हैं कि मनुष्य में भाषा सीखने की क्षमता सहजता या स्वाभाविक होती है। चॉम्स्की प्रत्येक व्यक्ति के भाषा के दो पक्ष मानते है-योग्यता एवं निष्पादन। व्यक्ति भाषक योग्यता के आधार पर भाषा की प्रकृति के अनुकूल वाक्यों का निष्पादन करता है एवं दूसरे द्वारा प्रयुक्त वाक्यों को ग्रहण करता है।

चॉम्स्की ने अपने सिद्धांत मं मानव मस्तिष्क एवं बुद्धि को महत्त्व दिया है अतः मानव-मस्तिष्क की संरचना में सार्वभौम्यता के कारण उनकी भाषात्मक विश्लेषण प्रक्रिया को सार्वभौम व्याकरण अथवा सर्वभाषिक व्याकरण कहते हैं। इस व्याकरण में वाक्य विन्यास के नियमों की खोज के स्थान पर उन आधारों का अन्वेषण है जिनके द्वारा उन नियमों को अमूर्त स्तर पर विखंडित किया जा सकता है।

सार्वभौम व्याकरण के निमय चूँकि विश्व की सभी भाषाओं के सापेक्ष है इसलिए चॉम्स्की द्वारा दिए गए 'रूपांतरण प्रजनन नियम' को सार्वभौम व्याकरण के रूप में जाना जाता है। चॉम्स्की ने भाषाको वाच्यों के समुच्चय के रूप में परिभाषित किया और वाक्य को व्याकरणिक विश्लेषण का प्रस्थान बिन्दु बनाया। इस नई अमेरिकी विचारधारा में वाक्य से रूपिम तक की संपूर्ण व्याकरणिक संरचना को वाक्य विन्यास का अंग माना गया। वाक्य के विभिन्न घटकों के पारस्परिक संबंधों में अंतर करना आवश्यक नहीं समझा गया और रूप प्रक्रिया को वाक्य-विन्यास में समाहित कर दिया गया।

चॉम्स्की के रूपांतरण की धारणा का संबंध उनकी गहन संरचना और बाह्य संरचना की धारणा से है। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक वाक्य के दो रूप होते हैं-गहन संरचना और उसकी बाह्य संरचना हर भाषा में वाक्यों की कुछ मूल संरचनाएँ होती हैं और वाक्य विन्यास के नियम होते हैं जिनके द्वारा बीज वाक्यों से अन्य वाक्यों को प्रजनित किया जता है। 'सिंटेक्टिक स्ट्रक्चर्स' के प्रस्तुत सिद्धांत को क्लासिकी सिद्धांत कहा जाता है। व्याकरण के इस प्रारूप के अंतर्गत तीन प्रकार के नियम दिए गए हैं-घटक संरचना, रूपांतरण के नियम, स्वनिमिक नियम। घटक संरचना, रूपांतरण के नियम, स्वनिमिक नियम। घटक संरचना नियमों द्वारा भाषा के बीजवाक्यों की घटकीय संरचना पुनर्लेखन नियमों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। निकटस्थ अवयव विश्लेषण के अनुसार वाक्य के निकटस्थ अवयव संज्ञा पदबंध तथा क्रिया पदबंध हैं। पुनर्लेखन नियम द्वारा इस तथ्य को वाक्य ❁ संज्ञा पदबंध . क्रिया के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। पुनर्लेखन नियमों द्वारा प्रजनित बीजवाक्य सरल, कर्तृवाच्य, सकारात्मक और कथात्मक होते हैं।

रूंपातरण के नियम घटक संरचना नियमों द्वारा प्राप्त अंतिम मालाओं पर कार्य करते हैं और उन्हं व्याकरणिक वाक्यों का रूप प्रदान करते हैं। रूपांतरण नियमों के प्रयोग से बीजवाक्यों की प्रतिज्ञात विषय वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं होता, किंतु उसके रूप में परिवर्तन हो जाता है

जैसे-

नोट्स

जब राम को पुरस्कार मिला, राम बहुत प्रसन्न हंआ।

जब राम को पुरस्कार मिला, वह बहु प्रसन्न हुआ।

अत: चॉम्स्की का रूपांतरण प्रजनक व्याकरण विश्व भाषओं के लिए एक सार्वभाषिक निमय का प्रतिपादन करता है। जो सर्वथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। अत: यह सार्वभौम व्याकरण नियम विश्व की भाषाओं की प्रकृति को समझने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

4.49 हिन्दी की स्वनिम व्यवस्था

स्वनिम शब्द अंग्रेजी के चीवदपउ का हिन्दी अनुवाद है। इसे 'ध्वनिग्राम' भी कहते हैं। स्वनिम के साथ संस्वन का उल्लेख किया जाता है। उपस्वन या संस्वन के लिए 'संध्वनि' शब्द का प्रयोग किया जाता है। संस्वन को अंग्रेजी में ।ससवचीवदम कहते हैं।

भाषा में वाक्यों के माध्यम से अभिव्यक्ति की जाती है। ये वाक्य एकाधिक पदों से मिलकर बने होते हैं। विभिन्न शब्दों में प्रत्यय जोड़कर पद की रचना की जाती है। शब्द ध्वनि समूह ही होते हैं। इन्हीं ध्वनियों का सीधा संबंध 'स्वनिम' या उपस्वन से है। ध्वनियों का उच्चारण विभिन्न अवयवों द्वारा कया जाता है। सामान्यत: व्यक्तियों का उच्चारण अवयव सामान्य हो हुए भी थोड़ी-बहुत भिन्नता रखते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा डचचरित ध्वनियाँ एक-सी होती हुई भी संवेदनशील यंत्रों द्वारा भिन्न दिखाई देती है। यहीं नहीं एक व्यक्ति जब एक ही ध्वनि को बार-बार भिन्नता रखते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ एक-सी होती हुई भी सवेदनशील यंत्रों द्वारा भिन्न दिखाई देती हैं यही नहीं एक व्यक्ति जब एक ही ध्वनि को बार-बार बोलता है तो उसमें सूक्ष्म अंतर आ जाता है। मोटे तौर पर हम उन्हीं ध्वनियों को अलग समझते हैं, जिन्हे हमारे कान सरलता से पृथक अनुभव करते हैं। दरअसल एक ध्वनि ये सभी सूक्ष्म रूप जो भले ही कानों द्वारा पृथक अनुभव न किए जाए, संस्वन है, या इन्हीं का वर्ग जो अन्य ध्वनियों की तुलना में अर्थ भेदकता में समर्थ होता है।, स्वनिम कहलाता है।

अत: कहा जाता है कि स्वनिम किसी भाषा की वह अर्थभेदक ध्वन्यात्मक इकाई है जिसके एकाधिक संस्वन होते हैं।

डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार, जिसमें किसी भाषा में प्रयुक्त ध्वनिग्रामों तथा उनसे संबद्ध पूरी व्यवस्था पर विचार करते हैं वह स्वनिम विज्ञान के अंतर्गत ही आता है। इसमें स्वनिम तथा संस्वन का निर्धारण उपस्वन का वितरण, स्वर और व्यंजन स्वनिमों का उस भाषा में प्रयुक्त संयोग एवं उपक्रम प्राप्त, खंड्येतर स्वनिमों (अनुदान, बलाघात, दीर्घता, अनुनासिकता, संहिता) की व्यवस्थार रूपिमों के मिलने पर घटित होने वाले स्वनिमिक परिवर्तन आदि स्वनिमिक व्यवस्था से संबद्ध सारी बातें आती हैं।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर स्वमि की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई देती हैं-

1. भाषा के उच्चारण पक्ष की सबसे न्यूनतम इकाई स्वनिम है।
2. स्वनिम भाषा की अर्थभेदक इकाई है। स्वनिम का अपना कोई अर्थ नहीं होता, किंतु लघुतम शब्द-युग्मों में प्रयुक्त होने से उनमें अर्थ का भेद उत्पन्न हो जाता है।
3. स्वनिम की संकल्पना को समझने के लिए संस्वन की संकल्पना की समझ लेना आवश्यक है।

वस्तुतः स्वनिम के अनेक सदस्य होते हैं, इन सदस्यों को ही स्वन या उपस्वन कहते हैं। नोट्स

4.50 अर्थग्रहण की प्रक्रिया

बच्चा अर्थग्रहण कैसे करता है, इसका अध्ययन भारतीय भाषा-चिंतन में गहराई से हुआ है और अर्थग्रहण की प्रक्रिया को 'शक्ति-ग्रह' के नाम से कहा गया है। इसके आठ साधन माने गए हैं-

1. वृद्ध व्यवहार/लोक व्यवहार-छोटा बच्चा बड़ों से अथवा भाषा विशेष न समझने वाला व्यक्ति उस भाषा को बोलने वाले लोगों से अनेक प्रकार के वाक्य सुनता है और तदनुसार उनकी क्रियाओं को देखता है और तब शब्दों के अर्थों का ज्ञान होता है। शक्तिग्रह के उपायों में यह प्रमुखतम है। 'अश्वं नय', 'गां नय', 'अश्वम् आनय', 'गाम् आनय' वृद्धाजन व्यवहार के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। जनसाधारण जीवन भर इसी साधन से अपनी शब्दावली बढ़ाता चलता है।
2. कोश-शब्दकोश तो मुख्यतया शब्दों के अर्थ/अर्थों को बताने तथा समझाने के लिए बनाए ही जाते हैं। यदि पढ़ते समय पाठक के सामने कोई ऐसा शब्द आ जाता है, जिससे वह परिचित नहीं है तो सर्वप्रथम वह शब्दकोश निकाल कर अर्थ देखेगा। शिक्षार्थियों को विद्यालयों में निरंतर इस दिशा में प्रोत्साहित किया जाता है।
3. व्याकरण-शब्दों के अर्थ का ज्ञान व्याकरण से शीघ्र और सही-सही जो जाता है। संस्कृत जैसी भाषाओं में जहाँ प्रचुर मात्रा में यौगिक शब्द हैं, समास-प्रत्यय-उपसर्ग-संधि की जानकारी अर्थ निकालने में बड़ी सहायता देती हैं। जैसे-पठ् (पढ़ना) . 0 कुल (ञ अ क) (क्रिया करने वाला) ञ पढ़ने वाला।
4. आप्त वाक्य-'आप्त' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे संबद्ध विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और जो अपने विषय का विशेष होता है। शास्त्रों में आए शब्दों के मानक एवं प्रामाणिक परिभाषा आधारित अर्थ जानने का यह प्रमुख स्रोत है। कक्षा में अध्यापक द्वारा बताए और अन्यत्र बड़ों द्वारा बताए अर्थों को बालक इसी साधन द्वारा ग्रहण करता है।
5. उपमान-कभी-कभी बड़ों क लिए अर्थ बताना कठिन होता है क्योंकि वह प्राणी या वस्तु पूछने वाले को प्रत्यक्ष अथवा चित्रादि के माध्यम से उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में बताने वाला उस सत्ता से समीपतम परिचित वस्तु का उल्लेख करते हुए कहता है कि इसके समान होता है।
6. विवृति-विवृति का अर्थ विवरण देना अर्थात् व्याख्या देना है। संस्कृत में भाष्य, टीका आदि बहुत प्रचलन था। साहित्यिक कृतियों पर भी टीकाएँ मिलती थी, जिनसे अभिधा से अतिरिक्त व्यंजना, तात्पर्या आदि को स्पष्ट किया जाता है, साहित्यिक विशेषताओं को उद्घाटित किया जता है और कथ्य के ज्ञानमीमांसापरक पक्षों पर प्रकाश डाला जाता है। विवृति द्वारा शब्द के अर्थ के विविध पक्षों को उदाहरण भेद-उपभेद आदि द्वारा सम्यक् रूप से समझाया जाता है।

4.51 मौखिक तथा लिखित वार्तालाप

विचारों का आदान-प्रदान लिखकर भी हो सकता है तथा बोलकर भी। बोलते समय शारीरिक चेष्टाएँ (भाषेतर इकाइयाँ) भी भाषा के साथ जुड़ जाती हैं और अभिव्यक्ति को संप्रेषणीय (बवउउनदपबंइसम) बनाती है, जबकि लिखकर संदेश देते समय भाषेतर इकाइयों का कोई महत्त्व नहीं होता। उस हावभाव को लिपिबद्ध करना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक वार्तालाप देखिए, जो मौखिक तथा लिखित अभिव्यक्ति के स्तर पर किसी प्रकार से भिन्न हो सकता है–

मौखिक वार्तालाप–

अध्यापक : तुमने पाठ पढ़ लिया?

(छात्र द्वारा सिर हिलाना)

अध्यापक : यह किसके बारे में है?

छात्र : जी, बालगंगाधर तिलक।

(अध्यापक द्वारा उँगली से बैठने का इशारा करना)

लिखित वार्तालाप–

अध्यापक : तुमने पाठ पढ़ लिया?

छात्र : जी, पढ़ लिया।

अध्यापक : यह किसके बारे में है?

छात्र : जी, बालगंगाधर तिलक।

अध्यापक : ठीक है, बैठ जाओ।

संदेश चाहे लिखकर दिया जाए या बोलकर, इसका अपना एक 'कोड' होता है, एक शैली होती है। जब हम किसी से बातचीत करते हैं तो आमतौर पर पूरे वाक्यों का कम प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि हर अगला वाक्य अपने पहले वाक्य से जुड़ा होता है। बातचीत करते समय बहुत से अंश अनुमान के आधार पर छोड़ दिए जाते हैं क्योंकि वहाँ उसका संदर्भ होता है। उदाहरण के लिए एक वार्तालाप देखिए–

क : शर्मा जी, आप कल आए नहीं?

ख : जी, मैं बंबई चला गया था।

क : क्यों?

ख : कुछ काम था।

क : अच्छा।

4.52 ऐतिहासिक ध्वनि प्रक्रिया परिवर्तन

हिंदी का एक लंबा इतिहास है। संस्कृत से अनेकानेक शब्द पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-पुरानी हिंदी से गुजरते हुए हमारे पास पहुँचे हैं और उनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी हुए हैं। इन ध्वन्यात्मक रीति से परिवर्तित शब्दों को हम 'तद्भव' कहते हैं। इन तत्सम-तद्भव अथवा तद्भव-तद्भव में कभी-कभी ध्वन्यैक्य स्थिति आ जाती है और अनेकार्थता का जन्म हो जाता है। जैसे-काम (तत्सम)-काम (तद्भव ढ कर्म), बेर (तद्भव ढ बदर)-बेर (तद्भव ढ वेला) आदि।

हिंदी में हिंदी-भिन्न भाषाओं से आदान लिए शब्दों की संख्या की संख्या भी विशाल है। अपनी भगिनी भाषों, जैसे बंगाली, मराठी, गुजराती आदि से तो शब्द लिए ही गए हैं, विदेशी भाषाओं से विशेषतः अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी से निःसंकोच शब्द लिए गए है, और ऐसी स्थिति में ध्वन्यैक्य की स्थिति आना कठिन नहीं है।

'बस' शब्द सस्कृत 'वंश' का तद्भव है, अंग्रेजी 'बस' का आदान शब्द है, और अरबी फारसी 'बस' का आदान शब्द भरी है। कुछ और उदाहरण हैं-आम (तद्भव ढ आम्र) – आम (अरबी 'सामान्य'), चंदा (तद्भव ढ चंदा) (फारसी 'चन्द'), पर (ढ परंतु), पर (फारसी 'पक्षी के पंख') आदि।

प्रश्न 30: नवशब्द निर्माण से उत्पन्न अनकार्थता।

उत्तर: भारती की वर्तमान भाषाओं में हिंदी को सबसे अधिक नवशब्द निर्माण की चुनौती का सामना करना पड़ा है। उत्तर भारत के प्रायः सभी महाविद्यालयो, विश्वविद्यालयों तथा तकनीकी शिक्षा संस्थानों को हिंदी माध्यम से अध्ययन-अध्यापन करना पड़ रहा है, अतएव शैक्षिक विषयों की तकनीकी शब्दावली के विकास के लिए भारत सरकार ने एक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग का गठन किया है जो पिछले पचास सालों से हिंदी शब्दों का निश्चयन कर रहा है। राजभाषा होने के कारण भी प्रशासनिक तथा सभी मंत्रालयों से संएद्ध शब्दावली के हिंदी शब्दों का विकास हो रहा है। इस कार्य में संस्कृत शब्दों मूलांशों, प्रत्ययों तथा उनके विविध संयोजनों का सहारा लिया जाता है अतएव स्वाभाविक है कि नवचरित शब्द का अर्थ संस्कृत का पुराना और एक अर्थ आज का। उदाहरणार्थ 'मंत्रालय' तो संस्कृत में 'मंत्रालय' न होने के कारण एकार्थी है, किंतु, मंत्री संस्कृत में आज डपदेजमत के अर्थ में नहीं था, वहाँ वह 'सलाह देने वाला' के अर्थ में था। अतएव 'मंत्री' के दो अर्थ हो गए। इसी प्रकार 'आकाशवाण ी' के दो अर्थ हो गए।

4.53 संसक्ति

प्रोक्ति के संदर्भ में एक बात ज्ञात होनी चाहिए कि वह भाषिक अभिव्यक्ति या भाषा व्यवहार है, जिसमें अर्थ को सम्प्रेषण होता है अर्थ समपेषण के लिए वाक्य स्तर पर शब्दों की व्याकरणिक संरचनत्माक व्यवस्था का होना जरूरी है। प्रत्येक शब्द का स्थान निश्चित है। वह अपने अर्थप्रेषण के रूप में एक -दसवरू से सुसबंद्ध रहते है। इसी प्राकर प्रकार प्रोक्ति प्रोक्ति के लिखित रूपों को विश्लेषण करने पर, उसका अर्थ तभी संचारित होगा जब उसके वाक्यों का आपसी गठन अर्थ की दृष्टि से शृंखला प्रक्रम का नाम संसक्ति है।

नोट्स

(1) व्याकरण आधारित संसक्ति

(2) अर्थ आधारित संयाक्ति कू कू

(1) व्याकरण आधारित संसक्ति-व्याकरणि दृष्टि से या भाषा वैज्ञानिक वृष्टि से भाषा की महत्तम संरचना वाक्या है तथा वाक्या से ऊपर वाक्योपरि संरचना प्रोकित। अत: व्याकरणिक दृष्टि से वाक्य की संरचना के पश्चात् दो वाक्यों के बीच परस्पर जुड़वा को व्याकरणिक रूप से गठित करने के निम्नलिखित प्रकार है।

(क) संकेत (त्ममितमबम) वाक्यों का आपस में जोड़ने के लिए 'उसके',मुझको आदि माध्यमों को प्रयोग करते है। जो वाक्यों को अपने पूर्ववर्ती या परवर्ती वाक्यों से सुसंबद्ध करता है। संकेतन के तीन भेंद है।-पूर्व संकेतन, जैसे, उसके आदि करता है। संकेतन के तीन भेद है- पूर्व संकतन, जौसे-उसको उसके आदि, पश्च संकेतन जौसे इसे तरह, इसे प्रकार अत: अदि तथा वबहत: संकेतन जैसे, 'आदि' का प्रयोग

(ख) स्थान शब्द-हिंदी भाषा में स्थानापन्न के लिए अंग्रेजी के भाँति वदम और कव का इस्तेमाल नहीं किया जाता है बल्कि हिन्दी में इस संसक्ति के लिए एक ही शब्द का व्यवहारा कभी-कभी हो जाता है स्थानपन्न का अर्थ है-एक दूसरे के स्थान पर उपस्थित होना।

(ग) अध्याहार-अध्याहार का अर्थ होता है- अनुमान से अर्थ निकालना। अर्थातू शब्द को वाक्यों या पदों को पूरा करने के लिए ऊपर से जोड़ लेना जौसे-"फ्रिज में सेब है-दो ले लो।"

"नही मम्मी! मुझे तीन चाहिए।"

यहाँ 'दो' तीन सबसे के अध्याहार है।

(घ) अर्थ आधारित संसक्ति-अर्थ पर आधरित संयाक्ति में वाक्यों के बीच क्रम से अीं का समाजस्य बिठाना होता है। इस प्रकार से वाक्यों जोड़ने के लिए सर्वनाम का उपयोगा किया जाता है जौसे-

"राम ने हाई स्कूल परीक्षा पास कर ली है। उसे अच्छी अंक मिले हैं। अव वह किसी अच्छे कॉलेज में नामांकन करवा सकाता है"

इन सबके अलावा तर्कधारिया संयोजना सर्वधिक उपुयक्त होता है। जिसमें कार्य-कारण सम्बध द्वारा वैज्ञानिक संगठन दिया जाता है।

भावान नुवाद और सारानुवाद

भावानुवाद: इस प्रकार के अनुवाद में मूल भाषा की अभिव्यक्ति के अनुसार पर बल नही होता है, बल्कि उसके निहित आश्या को रूप करने की चेष्ट की जाती है। मूल सामग्री के ढाँचे से स्वतंत्रतो होने के कारण यह अनुवाद ल.भा की दुष्टि से अधिक सहज तथा स्वाभविक भी होता है। किन्तु इसमें सावधान न रखी जाए तो मूल कृति की विशिष्टता के लुप्त हो जाने का भय रहता है।

सारानुवाद- इस प्रकार के अनुवादक में अनुवादक अपने अनुवाद-कार्य के दौरान ही मूल का सार केके उसका ल. भ. में रूपांतरण करता है। कई पत्रिकाताओं में आने प्रसिद्ध विदेशी उपन्यासों के इस प्रकार के सार-संक्षेप देखे भी होगे।

4.54 भाषा शिक्षण के क्षेत्र

भाषा शिक्षण आज उदेश्य केंद्रित हैं। भाषा का अध्येता भाषा के किसी न किसी उदेश्य से सीखता है। मातृभाषा का औपचारिक और लिखित रूप व इसलिए सीखता है कि एक बड़े लिखित साहित्य से परिचित हो सके। मातृभाषा सीखने का एक उदेश्य यह भी होता है। कि शिक्षार्थी इसके माध्यम से अपने भावों और विचारों के लिखित रूप से व्यक्त करके अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने में समर्थ बनता है। इसी प्रकार द्वितीय भाषा के माध्यम से ही संभव है जो विदेशी भाषा के माध्यम स ही प्राप्त हो सकते है। जैसे अनुवाद कार्य,दुभषिए का कार्य, विदेशी दूतावासों में सेवा इत्यादि। इसके साथ ही किसी अन्य राष्ट्र में पर्यटक के रूप में जाने पर भी विदेशी भाषा का सामान्य ज्ञान काफी सहयोगी होता है। विदेशी भाषा के अधिकांश अध्येता इसी उदेश्य से कोई विदेशी भाषा सीखते है।

उदेश्य की पूर्ति के भाषा-शिक्षण- भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में मातृभाषा, द्वितीय भाषा और विदेशी भाषा तीनों ही स्तरों पर भाषा-शिक्षण के उदेश्य निर्धारित किए गए है। इस संदर्भ मं भाषा- शिक्षण में 'केन्द्रक' के बलने का भी काफी प्रभाव पड़ा है। भाषा-शिक्षण की पाठ्चर्चा और पाठ्यक्रय दोनों के केन्द्र में मूलत: शिक्षार्थी को ही महत्त्व मिलना चाहिए। अब भाषा-शिक्षण का केन्द्रक शिक्षार्थी है औरर पूरी शिक्षण प्रणाली के उदेश्य शिक्षार्थी की दृष्टि से ही निर्मित और नियंत्रित किया जाता है। इस प्रकार भाषा-शिक्षण का उदेश्य शिक्षार्थी के भाषा सीखन के पीछे निहित उदेश्य से सम्बद्ध हस गया है शिक्षा की पुरानपी परम्परा पाठ्यचर्चा के रूप में 'विद्यालय' और 'विषयवस्तु' को महत्त्व देती थी। परन्तु अब यह धारणा बदल गई है।

अब यह माने जाने लगा है कि शिक्षार्थी के उदेश्य को प्रमुखता देनी चाहिए क्योंकि भाषा-शिक्षण का तात्पर्य शिक्षार्थी के अनुभव जगत को उसकी रूची के अनुरूप ससक्षम बनाना है। शिक्षार्थी के केन्द्र में रखने वाली आधुनिक भाषा-शिक्षण पद्धति यह मानती है कि शिक्षण समाग्री के रूप में विषयवस्तु चाहे कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो और पाठ्य सामग्री का तर कितना ही ऊँचा क्यों न हो, तब तक अध्ययन अध्यापान के समय शिक्षार्थी का अनुभव जगति उसे ग्रहण नहीं करता है। उससे प्रभावित नहीं होता है तथा उसकी क्षमता, रूचि और अभिवृत्ति के अनुरूप में उपयोगी नहीं बनता तब तक शिक्षा का पूरा कार्यक्रम अधूरा ही माना जाएगा। इस प्रकार भाषा-शिक्षण के उदेश्य भी पूरे नही हो पाएँगे।

यह कारण है कि शिक्षार्थी का ध्यान में रचकर भाषा-शिक्षण के उदेश्यों का निर्धारण किया गया है।

भाषा शिक्षण के उदेशय का निर्धारण- भाषा मनुष्य के जीवन में अनके कार्य करती है। मनुष्ठ भाषा ही अपने अनेक सामाजिक दायित्वों की पूर्ति करता है। आजकल यह भी माना जाता है है कि मनुष्य को व्यापक संप्रेषण के लिए दो प्रकार की भाषाओं की आवश्यकता होती है। जब वह अपनी किसी प्यारी या आत्मीय वस्तु की भाषाओं की आवश्यकता होती है। तब उसे परिवार की भाषा अर्थात् सामान्य भाषा की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन इसके साथ ही उसे तथ्यपकर भाषा भी चाहिए।

ज्ञान, तर्क और वैज्ञानिक सतय की भाषा भी चाहिए। ज्ञान, तर्क और वैज्ञानिक समय की भाषा के बिना उसका कार्य नहीं चल सकता है। इस भाषा के शब्द आधुनिकीकृति होती है और उसके अर्थ स्थिर। हम यह जानते हैं कि हिंदी की बोलियाँ घर-जीवन की भाषा के रूप में हमारी आवश्यकताएँ पूरी

नोट्स

करती है लेकिन ज्ञान, तर्क आदि के लिए हमें हिन्दी या अंग्रेजी की और जाना पड़ता है। अर्थात् हम भाषा-शिक्षण की औपचारिक प्रणाली से किसी उदेश्य की पूर्ति के लिए जुडते है। संसार की अनेक छोटी-छोटी भाषाएँ उन भाषा समुदायों की संप्रेपण संबंधी सामान्य जरूरतों को तो पूरा करती है लेकिन व्यापक उदेश्यों के लिए य समाज विश्व की विकसित भाषाओं को अधिगम करते है और अपने को आधुनिक या अंतर्राष्ट्रय संप्रेषण व्यापार के लिए तैयार करते हैं। समान्य और विशिष्ट दोनों ही प्रकार के भाषा प्रयोगों को देखते हुए भाषा-शिक्षण के क्षेख में कुछ उदेश्य निर्धारित किया गए जा निम्नलिखित है

1. मन की सर्जनात्मक- भाषा हमारे विचार और दृष्टिकोण दोनों प्रभावित करती है। भाषा मनुष्य को अपने नियंत्रण में रखती है। भाषा के अधिगम या शिक्षण का प्रमुख उदेश्य यह है कि अध्येता को भाषा से नियंत्रित होने की स्थिति से निकल कर उसमें भाषा को नियंत्रिण्त करने की क्षमता और दक्षता उत्पन्न करे। भाषा-शिक्षण का यह प्रमुख उदेश्य है कि भाष का अध्येता आवश्यकता पड़ने पर अपने अनुभवों औरन अपनी अभिव्यक्तियों को पूछ सके, भिन्न मानोभवों को व्यक्त करने के लिए भिन्न अभिव्यक्तियों का सटीक उपयोग कर सके इत्यादि। इसे हम भाषा को साधाने की स्थिति भी कह सकते है। प्रमुख रूप से मातृभाषा अधिगम का यह उदेश्य होता है कि अध्येता अपनी मातृभाषा को साध कर विविध परस्थितियों और मौखित अभिव्यक्ति कर सके।

2. दृष्ट की मुक्तता- भाषा हमे जीवन और जगत को देखन की दृष्टि भी देती है हम अपने आसपास की चीजों को भाषा का माध्यम से ही पहचानते है। भी कहा जा सकता है कि हम संसार को उसी प्रकार देखते है जिस तरह भाषा हमें दचने की अनुमति देती है। इतना ही नहीं, हम अपने अनुभवों को भी उसी रूप ढाल गहरा होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भाषा का संबंध हमारे परिवेश और समाज से बहुत गहरा होता है। अन्य भाषा-शिक्षण का उदेश्य इसीलिए विशिष्ट है कि वह हमें दूसरी भाषा के माध्यम से जीवन और जगत को देखने की शक्ति प्रदान करती है। अपनी मातृभाषा में हमें यह शक्ति स्वतःप्राप्त होती है। अन्य भाषा-शिक्षण का यह उदेश्य है कि मातृभाषा में बधी हुई संसार को देखने की इस दृष्टि से भिन्न एक अन्य दृष्टि भाषा अध्येत को प्राप्त हो सके, उसका आयामा विस्तृत हो सकें। अब हम यह मान सकते हैं कि अन्य भाषा शिक्षण का उदेश्य है कि शिक्षति एक अतिरक्त भाषा की संस्कृति से आमने-समाने हो सके। दो संस्कृतियों के माध्यम से अध्येता का अनुभव जगत व्यापक बनता है। दो भाषा व्यवस्थओं में गुथा उसका अनुभव मानसिक दृष्टि से भी उसे लचीत एक से अधिक दृष्टिकोण से देख पाने में समर्थ

3. बुद्धि की समृद्धता-भाषा ज्ञानार्जत का एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। ज्ञान, विज्ञान और तक के कई ऐसे क्षेत्र है जाहाँ हमें एक विशेप प्रकार की भाषा अथव अन्य भाषा की आवययकता पड़ती है हमारी अपनी ही भाषा में ज्ञान-विज्ञान से संबंधित नित नए शब्द आते रहते हैं। इसके माध्यम से ही हम वाह्य जीवन की नई-नई वस्तुओं की जानकरी प्राप्त करते है। मातृभाषा और अन्य भाषा, दोनों के शिक्षण का यह उदेश्य होता है कि ज्ञान और वृद्धि के धररातल पर भाषा अध्यता के समृद्ध बनाता चले। भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया में पाठ्य सामग्री इसी उदेश्य को ध्यान में रखकर बनाई जाती है कि भाषा के सहारे अध्येता बौद्धिक स्तार समृद्धि से समृद्धतर हो सके।

नोट्स

4. व्यक्तित्त्व की सामाजिकता' भाषा केवल संप्रेषण का साधन ही नहीं है, यही व्यक्ति को सामजिक बनाने का समर्थ माध्यम भी है। भाषा के द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। भाषा के सहारे ही व्यक्ति समाज से जुड़ता है और जुड़ने की प्रक्रिया में ही वह समाजिक बनता चलता है। भाषा अधिगम और भाषा-शिक्षण भी इसलिए एक अनवरत प्रक्रिया माने गए है। यही कारण है कि भाषा अधिगम और शिक्षण के समय ही व्यक्ति समाज और स्कृति को तथा समाज और संस्कृति से सामाजिक व्यक्तित्त्व को प्राप्त करता हैं। भाषा-शिक्षण का यह उदेश्य है कि वह अध्येता के सामाजिक व्यक्तित्त्वा को प्राप्त करता है। भाषा-शिक्षण का यह उदेश्य है कि वह अध्येताा के सामाजिक व्यक्तित्त्व का निर्माम और विकास पर ध्यान दे।

4.55 व्यतिरेकी विश्लेषण

व्यतिरेकी विश्लेषण हम दो भाषाओं की तुलना करते हैं। सहज रूप से यह सवाल उठता है कि तुलनाम्मक भाषाविज्ञान और व्यतिरकी विश्लेपण में क्या अंतर है। वास्तव में इन दोनों प्रक्रियाओं में अंतर करने के उदेश्य से ही ये दो अलग नाम बने हैं। वैसे दोनों में भाषाओं की तुलतना होती है या दूसरे शब्दों में तुलना को दुष्टि करती है। लेकिन इनके उदेश्यों और प्रविधि में विशिष्ट अंतर है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान इस विषय क्षेत्र के विकास को प्रारंभिक चरण है। भाषाविज्ञान की उस शाखा में प्राय: एक ही परिवार की (सगोत्रीय) भाषाओं की तुलनाप की जाती है। तुलना के आधारपर उसके परस्पर संबंधों का पता लगाया जाता है। उनमें परिलक्षित अंतरों की खोज करते हुए हम उनके इतिहास क्रम को जान पाते हैं। उनके ऐतिहासिक विकास की दृष्टि में परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता हे। तुलना में केवल समान तत्त्वों का विभिन्नता पर प्रकाश डाला जाता है। जिसमें हम मूलभूत एकता को पहचान सकें। अत तक भाषाओं की प्रकृति तथा उनके पारिवारिक वर्गीकरण पर वहुत कम हो चुकि है। इस दृष्टिस से यह भी कह सकते है कि आज तुलनात्मक भाषाविज्ञान की उपयोगिता खत्म हो चुकि है।

आज के भाषावैज्ञानिक संसार के विभन्न भाषाओं में रचना की दृष्टि से समान तत्वों को ढूँढ़ने पर अधिक जुटे है। उन विद्वानों की यह प्राक्लल्पना है कि मावन भाषा में, विविध भाषा परिवारो के होते हुए कोई सार्वभौम तत्त्वों हैं, तत्त्वों की खोज कर लेने पर हम मनुष्यों की समस्त भाषा के केंद्र में निहित सार्वभौम व्याकरण का पता लगा सकते है।

व्यवहारवादी सिद्धातं में व्यतिरेकी विश्लेषण- व्यतिरकी विश्लेपण विश्व की किन्ही दो भाषा के बीच में किया जा सकता है इसका आधार यही है कि दो भाषाओं में कुछ समान तत्वों होगें और कछ असमान (विषय) तत्त्व। एक परिवार की भाषाओं में समानता अधिक होगी, दूर की भाषाओं में विषमता अधिक होगी। व्यतिरेक शब्द वास्तव में रचना में विपरीतता का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'चल' और 'जल' शब्द व्यतिरे में हैं और अर्थ भेद करते है च/ और/ज/ ध्वरनियों की व्यतिरकी व्यवस्था ही दोनों में अर्थ भेद का आधार है। इस तरह अर्थ भेद पैदा करने वाले इन विपरीत तत्त्वों का पता लगाना ही व्यतिरेकी विश्लेषण का मुख्य लक्ष्य है। भाषाओं की तुलना की प्रक्रिया से ही हम व्यतिरेक की पहचानते है।

व्यवहारवाद संदचनात्क भाषाविज्ञान व्यतिरके के भापिक अधिकाधिक का आधार माना जाता है दो ध्वनियों या दो शब्दों में व्यतिरके अर्थभेद हैं इस तरह दो भाषा के बीच हम व्यतिरेक के माध्यम से

नोट्स

भिन्न-भिन्न संरचनात्मक तत्त्वों को पहचानते है जो भिन्नता में और अर्थ ग्रहण में बाधा पहुँचतें है। इसी को भाषा शिक्षण में व्याघात कहा जाता है आमतौर पर मातृभाषा को दूसरी भाषा व्यघात होता है यानि कि मातृ भाषा की भाषिक इकाइयाँ दूसरी भाषा के अर्जन में व्यवधन पैदा करती है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी भाषी अंग्रेजी का 'था' ध्वानियों के उच्चरण से सर्जित नहीं है इसलिए वह जेपद तथा जैमद शब्दों का हिंन्दी में क्रमशः जीपद और जीमद बोलता है जबकि 'और' 'न' ध्वनियाँ अंग्रेजी में है नहीं

संरचनात्मक भाषा शिक्षण यह मानकर चलता है कि भाषा आदतों का समुच्चय है। जब कोई नई बता सीख ली जाए तो उसे धनात्मक अंतरण कहा जाता है। जब वह सीखी न जाए या उसकी जगह कोई और वस्तु सीखी जाए तो इसे ऋणत्मक अंतरण कहा जाता है संरचनात्मक भाषा शिक्षण सही आदत डालने पर बल देता है। और इसके लिए पाठ्य बिंदुओं को निश्चय करने के लिए व्यतिरेक के विश्लेषण की सहायाता लेता है।

व्यतिरेक के विश्लेषणः प्रक्रिया और परिणाम-व्यतिरेक के विश्लेषण में आमतौर पर भाषा के एक निश्चित क्षेत्र को चुना जाता है जैसे- ध्वनियों के विश्लेषण या संध्या पदों का विश्लेषण या क्रिया के काल और पक्ष का विश्लेषण आदि। इस संदर्भ में दोनों भाषाओं की संरचनाओं की समुचित अध्ययन किया जा सकता है। व्यतिरेक के अध्ययन मे नई दिशाएँ दिखाई पड़ती है।

1. किसी भाषा में कोई भाषिक तत्त्वा है दूसरी में नहीं, जैसे हिन्दी में महापुराण तमिल में नहीं है।
2. कही दोनों भाषाओं में वह भीषिक तत्त्व है लेकिन दोनों भाषाओं में इसका मूल अलग हैं। दोनों मं 'क', 'ख' दोनों अर्थ भेदक हैं जैसे 'काना', 'खाना', अंग्रेजी मे यह ध्वनियाँ एक स्वनियम के अंग हैं अर्थभेदक नहीं है। अंग्रेजी में 'ख' उच्चारण केवल उच्चारण नहीं है होता 'क' का उच्चकरण शब्द और स्थानों में है।
3. भाषिक तत्त्वों दोनों भाषाओं में भिन्न रचनओं के द्वारा अभ्व्यिकत होता है जैसे हिंदी में फेंक देना, गिर जाना, लिख लेना आदि रंजक क्रिया का उपयोग है। आमतौर पर कहा जाता है कि अंग्रेजी में रंजक क्रियों नहीं हैं लेकिन अंग्रेजी में रंजक क्रिया विशेष्ण शब्द जोड कर इन्हीं संदर्भों के जैतवहनजीूंलए सिस मवूद .जांम कवूद आदि संयुक्त क्रिया आते है।

जब इस तरह की भिन्न रचनाएँ समान आती है तो भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करता है। इस तरह व्यतिरेक विश्लेषण इस बाता को यत्न करता है कि भाषाओं की रचनाओं की रचनओं में भिन्नता के प्रतिभाओं का पूर्वामुमान करे और अध्येताओं की संभावित कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए शिक्षण का आयोजन करें।

अनुवाद, भाषा शिक्षण आदि भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रतिपादति सद्धिांतो का उपयोग करते है, और अपने कार्य क्षेत्र में उन सिद्धांतों के अनुप्रयोग का लाभ उठाते रहे हैं। इसी कारण कुछ विद्धान अनुवाद, भाषाशिक्षण आदि क्षेत्रों के अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान का क्षेत्रा मानते है।

4.56 बहिरंग अलोचना और अंतरंग आलोचना

नोट्स

आलोचना के दो पक्ष माने गए हैं- (1) बहिरंग आलोचना और (2) अंतरंग आलोचना। बहिरंग आलोचना से तात्पर्य कवि या पाठक, सामाजिक या सांस्कृति मूल्यों का विवेचन करना है। यह आलोचना शैलीविज्ञान के महत्त्व को नकारता है लेकिन उसका यह कहाना है कि उससे कृति की आलोचना शैलीविज्ञान के क्षेत्र के बाहर है। ऐसा नहीं है कि शौली विज्ञान मार्क्सवाद, समाजशास्त्रीय, रसवादी आदि आलोचना के महत्त्व को नकारता है लेकिन उसका यह यह कहाना है कि इससे कृति की आलोचना सही ढंग से नहीं हो पाती है क्योंकि इसकी पद्धति न तो वैज्ञानिक है और न ही इसका आधार ठोस है। अत: शैली विज्ञान की मान्यात है कि साहित्यिक कृति को समझने के बाद ही बहिरंग आलोचना का कार्य प्रारंभ होता है।

अंतरंग आलोचना में सहित्यिक कृति को स्वायत्त इकाई मानकर उसकी आंतरिक संचना का अध्ययन किया जाता है। इसमें ध्वनि-संयोजन, रूप प्रक्रिया, शब्द-संस्कार वाक्य-रचना, प्रोक्ति-संचना को ध्यान में रचाकर काव्यात्मकता की खोज की जाती है इसके साथ भापेतरक प्रतीक, भाव-भंगिमाएँ और मौन भापा की अध्ययन के क्षेत्र में आते है। यह आलोचना शैलीविज्ञान के कार्यक्षेत्र के अंतर्ग आती है।

शैलीविज्ञान अपनी अंतरंग आलोचना में सर्जनात्मक धरातल पर कथ्य और अभ्यिक्ति की समन्वित इकाई को भापिक प्रतीक मानाता है यदि रूपिम, शब्द, पद, वाक्य भापिक प्रतीत है तो यह भी माना जाता सकता है कि समूची कृति भी भापिक प्रतीक हैं इसी मान्याता के स्वीकार करते हुए शैलीविज्ञान अभिव्यक्ति पक्ष के आधार पर कथ्य तक पहुँचने को प्रयासा करता हे। एक रूसी विद्धान शक्लोवस्की ने काव्य के प्रतिपादन में इसकी तीन स्थितियों पर विचार करते हुए कहा कि कथ्य ओर अभ्व्यिक्ति एक समन्तिवत इकाई के ना तो दो स्तर है और न ही दो खंड अपितु वे एक ही वस्तु के दो पक्ष है। ती स्थितियें इस प्रकार है-

1. पहली स्थिति में अभिव्यक्ति कथ्य से अलग होती है और कथ्य की अपेक्षा अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाता है
2. यहाँ पर कथ्य अभिव्यकित से अलग होकर समाने आता हैं; और
3. काव्यकृति में कथ्य और अभिव्यक्ति अभिन्न रूप में प्रतिफलित होती है। पहली स्थिति 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन करती है जिसे शैलीविज्ञान स्वीकर नहीं करता क्योंकि यह अधूरी और असंग काव्यदृष्टि है।

दूसरी स्थिति बाहिरंग या साहित्येतर आलोचना के क्षेत्र में आती है जिसक काव्यकृति में निहित संदेश या प्रातिपाद्या वस्तु की व्याख्या दर्शन, सस्कृति आदि साहित्येतर संदर्भों में की जाती है तीसरी स्थिति काव्यकृति कों संतुलित और संगत दृष्टि से देखने का आग्रह करती है जो अंतरंग आलोचना की भीतर जाती है। इस प्रकार शैलीविज्ञान न तो केवल अभिव्यक्ति पर पर बल देता है और न ही कथ्य पर बल्कि इन दोनों के अंत: संबंधों पर बल देता है

4.57 भाषा शिक्षण की विधि

भाषा-शिक्षण के अनेक विधियों का उपयोग मातृभाषा उपयोग मातृभाषा-शिक्षण और अन्य भाषा-शिक्षण में किया जाता है। भाषा-शिक्षण का संबंध 'भाषा' से है अत: भाषा अध्ययन और अध्यापन से, संबंधित जो सिद्धांत और प्रणालियाँ विकसित हुई हुई है उनमें भाषा अधिगम (स्मंतदपदह) का स्थान प्रमुख हैं। भाषा-शिक्षण की सफलता इन्हीं विधियों पर निर्भर करती है। समय-समय पर भाषा-प्रणाली में हमें अनके विधियाँ प्रचलित दिखाई देती है। इसका क्षेत्र के प्रमुख विद्वान मैके ने पंद्रह शिक्षण विधियों के उल्लेख किया है।

1. प्रत्यक्ष विधि
2. स्वभाविक विधि
3. मनोवैज्ञानिक विधि
4. ध्वनि वैज्ञानकि विधि
5. वाचन विधि
6. व्याकरण विधि
7. संकेलन विधि
8. इकाई विधि
9. भाषा नियंत्रण विधि
10. अनुकरणात्मक विधि
11. अभ्यास सिद्धांत विधि
12. सजतीय विधी
13. द्विभाषीय विधि
14. अनुवाद विधि
15. व्याकरण-अनुवाद विधि

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भाषा-शिक्षण विधि के विकास में चार प्रमुख पड़ाव आए हैं।

1. व्याकरण विधि
2. व्याकरण अनुवाद विधि
3. संप्रेषणपरक भाषा-शिक्षण

4.58 नुक्कड़ नाटक 'औरत' में स्त्री की समस्याएँ

'औरत' हमारे मौजूदा हालात से उपजा नाटक है। हमारे देश में स्त्रियों की जो दीन-हीन दशा है और इस दशा को बदलने का उनका जो संघर्ष है, उसको नाटक की कथावस्तु का हिस्सा बनाते हुए प्रस्तुत करना चुनौतीपूर्ण काम है। औरत को विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण

नोट्स

के लिए घर की छोटी बच्ची और बेटी के रूप में अपने भाई की तुलना में वह भेदभाव झेलती है। पिता के रूढ़िवादी संस्कारों के अनुशासन में वह कैद है। पत्नी के रूप में पति का स्वामित्व उसकी स्वतंत्रता में तो बाधक है ही गृहस्थी, बाल-बच्चे, रसोई सबका बोझ ढोते-ढोते वह अभिशप्त जिंदगी जी रही है। शहरी छात्रा और सुशिक्षित बेरोजगार यूवती के रूप में एक और जहाँ शहरों में हो रही छेड़छाड़ का उसे मुकाबला करना होता है, वहीं घर के बुजुर्ग और बिरादरी के अंगूठे के नीचे उसे आजादी भी मयस्सर नहीं है। बुढ़िया मजदूरनी के रूप में पूँजीपति के जुल्मोसितम और शोषण का सामना करने को वह विवश है।

इस नाटक में स्त्री समुदाय के बारे में पितृसत्तात्मक पुरुष-प्रधान समाज के दृष्टिकोण, वैचारिक संस्कार और दसियानूसा व्यवहार की कलाई खोली गई है। भंड़ाफोड़ के लिए आमतौर पर स्त्रियों के साथ जैसा सलूक होता है उसे घटना के रूप में नाटकीय ढंग से दोहराया गया है और प्रत्येक पहलू की झलकियाँ दिखाई गई हैं। इसके साथ ही पूँजीवादी समाज के उत्पीड़नमय संसार में समदूर स्त्री की दुर्दशा के आम रूप क्या हैं और विशिष्ट रूप क्या हैं, इसे भी दर्शाया गया है। स्त्री के साथ की जा रही गैर बराबरी और उसे शारीरिक उपभोग की वस्तु समझने की पुरुषवादी भावना को सामने लाकर इस आख्यान में क्षोभ, क्रोध, करूणा, व्यंग्य और हास्य का सम्मिलित पुट नाटक को दिचस्प ओर रोचक बनाने के साथ-साथ विचारोत्तेजक भी बनाता है।

औरत नाटक का कथ्य विचार के रूप में यह है कि औरत के बारे में हमारे समाज का दृष्टिकोण बदलना चाहिए उसे बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए और उसकी महत्ता को स्वीकार किया जाना चाहिए। इस विचार को पाठक और दर्शक तक पहुँचाने के लिए पुरुष प्रधान समाज और परिवार के उत्पीड़न की सदियों से शिकार औरत की व्यथा-कथा, अपमान-उपेक्षा, अन्याय-शोषण को घटना विशेष, परिस्थिति विशेष और प्रसंग विशेष के माध्यम से चित्रित किया गया है। इस पद्धति के माध्यम से नाटक ने दर्शकों के सामने यह प्रश्न रखा कि क्या यह उचित हो रहा है? क्या यह होना चाहिए? या स्त्री के प्रति इस पारंपरिक रूख को बदलना चाहिए।

जब औरत अर्थात् लड़की घर की चहारदीवारी से निकल कर यदि बाहर आती है - चाहे शिक्षा के लिए ही क्यों न जा रही हो, तो गुंड़ों का जुल्म एवं कॉलेजों के निजी प्रबंधकों की मनमानी उन्हें झेलनी पड़ती है और इस तरह बाहर की दुनिया उनके लिए अधिक असुरक्षित और डरावनी कर दी गई है। यही नहीं यदि किसी तरह पढ़-लिख भी लिया तो बेरोजगारी या नौकरी में भेदभाव या यौन-उत्पीड़न की सिंति का उन्हें सामना करना पड़ता है।

4.59 'धोखा' निबन्ध की शैलीगत विशेषताएँ

'धोखा' निबन्ध को शैली की दृष्टि से किस वर्ग में रखा जाए यह तय करना आसान नहीं है। इस निबन्ध में विचार प्रधान निबन्ध की विशेषताएँ मौजूद हैं तो दूसरी ओर इसमें भाव प्रधान निबन्ध का प्रभाव भी देखा जा सकता है। संभव है कई इसको व्यंग्य निबन्ध कहना पसंद करें और कई इसे ललित निबंध। धोखा खाना या धोखा देना एक मानवीय क्रिया है। इसी धोखा निबंध को मिश्र जी ने निबन्ध का विषय बनाया है। धोखा शब्द पर विचार करते हुए लेखक ने इसके वैचारिक और दर्शनिक पक्षों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

नोट्स

इस निबन्ध की शुरुआत में ही लेखक ईश्वर और उसकी इस सृष्टि के पारस्परिक संबंधों पर विचार करने लगता है। 'शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा?' इस तरह के विचार प्रधान वाक्य निबन्ध में शुरु से अन्त तक भरे पड़े हैं। लेकिन दूसरी ओर वह इस वैचारिकता की गंभीरता को तोड़ता भी है। 'बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है।' जैसे वाक्य ही नहीं बल्कि 'जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंखी खाक में मिल जाती है।' या 'संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे।' वाक्य इस वैचारिक गंभीरता को तोड़ते हैं।

यह निबन्ध भावनात्मक निबन्ध नहीं है। यह जरूर है कि मिश्र जी की जिंदादिली और व्यंग्य विनोद की पूरी छटा निबन्ध में व्यक्त हुई है, लेकिन व कहीं भी भावना के प्रवाह में बहे नहीं है।

अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरुघंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा। जैसे हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण वाक्यों और संस्कृत के श्लोकों, सूर-तुलसी की कविताओं, लोकोक्तियों और मुहावरों से सुशोभित निबन्ध की शैली की दृष्टि से ललित निबन्ध ही कहा जाना चाहिए। यह जरूर है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनपके बाद के ललित निबन्धकारों में व्यंग्य विनोद की ऐसी छटा दिखाई नहीं देती, जैसी मिश्र जी के निबन्धों में मिलती है।

4.60 सप्रसंग व्याख्या

अतः पृथक् रहने वाले ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह करने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है; वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं; क्योंकि ईश्वर अवतार धारण करता है और अवतार धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है - धोखे का पुतला। और सच यही है। जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छप आदि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है, तो क्या है? और जब ईश्वर ही भ्रम से पूर्ण है, तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

उत्तर: प्रसंग-प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रतापनारायण मिश्र द्वारा रचित निबंध 'धोखा' से ली गई है। इसके रचयिता भारतेंदु युग के लब्धप्रतिष्ठित निबंधकार श्री प्रताप नारायण मिश्र हैं। इस अवतरण में विद्वान लेखक ने धोखे की शक्ति का वर्णन किया हैं मिश्र की के अनुसार ईश्वर को भी अवतार धारण करने के लिए माया अथवा धोखे का आश्रय लेना पड़ता है, अतः साधारण प्राणी के लिए धोखे से बचना नितांत असंभव है।

व्याख्या: ईश्वर इस संसार से अलग रहता है। वह संसार का स्वामी है, परन्तु वह भी धोखे से नहीं बच सकता। बल्कि वह तो अवतार धारण करते समय माया का आश्रय अवश्य लेता है। ब्रह्म माया के आवरण में रहकर साधारण मानव जैसा लक्षित होता है। सामान्य व्यक्ति उसे देखकर कल्पना भी नहीं कर सकते ह कि वह विराट् शक्ति संपन्न ईश्वर है। ईश्वर को इसलिए मायावपुधारी कहते हैं। वह मायामय शरीर धारण करता है। मायावपुधारी का अर्थ ही धोखे का पुतला है। ईश्वर निराकार होने पर भी कभी मनुष्य रूप में प्रकट होता है और कभी वह कच्छप और मत्स्य आदि का रूप धारण करता है कभी वह राम और कृष्ण के रूप में प्रकट हाता हैं, तो कभी वह किसी सिद्ध संत का रूप धारणकर भाँति-भाँति के रूप धारण करता है। देवताओं और मुनियों की मनोकामना पूर्ण करने के लिए वह कच्छप, वराह और

मत्स्य का रूप धारण कर लेता है। ईश्वर को शुद्ध तथा निर्विकार कहा जाता है, परन्तु वह तरह-तरह की लीलाएँ करता है। जब ईश्वर ही माया के बिना प्रकट नहीं होता तथा माया के सहयोग से ही वह लीलाएँ करता है, तब साधारण व्यक्ति माया अथवा धोखे से कैसे बच सकता है।

नोट्स

4.61 शुक्ल जी के निबन्धों के भाव और मनोविकार

'चिन्तामणि' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित निबन्धों का संकलन है। प्रारम्भ में इसके दो भाग प्रकाशित हुए थे, बाद में इसका तीसरा भाग भी प्रकाशित कराया गया है। चिन्तामणि भाग - 1 के निबन्ध ही शुक्ल जी की निबन्ध कला का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। इस निबन्ध संग्रह में कुल सत्रह निबन्ध संकलित हैं, जिन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है:

1. भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध,
2. सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध।

'भाव या मनोविकार' सम्बन्धी निबन्धों के अन्तर्गत दस निबन्ध हैं जिनके नाम हैं:

1. भाव या मनोविकार
2. उत्साह
3. श्रद्धा-भक्ति
4. करुणा
5. लज्जा और ग्लानि
6. लोभ और प्रीति
7. घृणा
8. ईर्ष्या
9. भय
10. क्रोध

"प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।" तुलसी का भक्तिमार्ग, नामक निबन्ध में भक्ति के मूल तत्त्वों की व्याख्या करते हुए यह प्रतिपादित किया गया हैं कि तुलसी के राम शक्ति, शील एवं सौन्दर्य सं समन्वित हैं तथा तुलसी भक्ति पद्धति संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता से मुक्त थी। 'मानस की धर्मभूमि' मं शुक्ल जी ने यह प्रतिपादित किया कि विश्व धर्म या पूर्ण धर्म के लिए व्यक्ति धर्म, समाज धर्म का बलिदान करना पड़ता है। राम पूर्ण धर्म के प्रती हैं अतः उनके लिए विभीषण ने परिवार धर्म का त्याग करके सराहनीय कार्य किया है।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा वाले विद्वान एवं गंभीर और मौलिक चिन्तक थे। वह कवि, आलोचक और निबन्धकार थे। वह तुलसी के भक्त तथा मर्यादावादी एवं लोकमंगल की दृष्टि से लिखने वाले साहित्यकार थे। इसी लिए उनके निबन्धों में साहित्य, हृदय तत्त्व, बुद्धि तत्त्व, लोकमंगलकारी दृष्टि मिलती है।

मनोविकारों पर गहराई तथा सूक्ष्मता से लिखे जाने पर भी वे मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है:

1. लेखक ने विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की दृष्टि से इन निबन्धों में भावों का प्रतिपादन नहीं किया है।
2. इनके लिखने के पीछे मनोविज्ञान का प्रस्ताव नहीं, उनका अपना अनुभव है। लोक-व्यवहार के आधार पर सामान्य मानव के मनोभावों का प्रतिपादन-विवेचन है। इन मनोभावों के गुण-दोष,

नोट्स

जीवन में उनका महत्त्व बताया गया है।

3. मनोभावों का विवेचन काव्यशास्त्र को दृष्टि में रखकर किया गया है।
4. इन मनोभावों का विवेचन मनोविज्ञान के शिक्षार्थी के लिए नहीं किया गया, सामान्य लोक के लिए किया गया है।
5. अपने विचार और भावों को समझाने के लिए काव्य-ग्रन्थों से उद्धरण दिए गए हैं।
6. इन निबन्धों से लेखक की दृष्टि काव्यगत एवं जीवनगत स्थितियों पर केन्द्रित रही है।
7. इनमें कोरे सिद्धान्त या विचार नहीं है, भाव तत्त्व भी विद्यमान है।

'लोक और प्रीति' में ये सभी गुण मिलते हैं। इस निबन्ध में लेखक ने इन दोनों मनोभावों पर मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया है और इन भावों की व्यवहारपरक व्याख्या भी की है।

4.62 आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा-शैली

संस्कृत में गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है – 'गद्य कवीनाम् निकर्ष वदन्ति।' शुक्ल जी ने कहा है कि यदि गद्य काव्य की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। वस्तुतः किसी को यदि गद्य की कसौटी पर परखना हो, तो हमें उसका निबन्ध साहित्य देखना चाहिए। इस दृष्टि से शुक्ल जी हिन्दी के महान् गद्यकार सिद्ध होते हैं। उनका एक-एक निबन्ध हिन्दी गद्य-शैली के विकास की शानदार मंजिल है। यही देख जयनाथ नलिन ने लिखा है, "निबन्ध के शिल्प का आदर्श तलाश करना हो, तो आप हिन्दी के अनुपम निबन्ध-शिल्पी शुक्ल जी के निबन्ध पढ़े।"

शुक्ल जी ने स्वयं निबन्ध का आदर्श बताते हुए कहा था कि विचारात्मक निबन्धों में गम्भीर और स्थायी महत्त्व वाले विषयों पर लिखा जाए और उनमें विचारों को दबा-दबा कर इस प्रकार कसा जाए कि विचारों की गूढ़-गुम्फित परम्परा बन जाये। इसी आदर्श का पालन उन्होंने अपने निबन्धों में किया हैं क्योंकि उनके निबन्ध भारतेन्दुकाल के लेखकों के समान मन की मौज में क्षणों में लिखे गए निबन्ध न होकर चिन्तन, मनन, अध्ययन और विचार-मथन के परिणाम हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा में इतना कसाव, सघनता और सूत्रात्मकता है कि एक वाक्य तो क्या एक शब्द भी नहीं निकाला जा सकता। उनके निबन्धों को पढ़ते समय लगता है कि लिखते समय लेखक के मस्तिष्क में चिन्तनधाराएँ तीव्रता से प्रवाहित हो रही होंगी, विचारों की भीड़ उमड़ रही होगी, इसीलिए उनका प्रत्येक वाक्य ही नहीं, वाक्य-खंड तक कोई गम्भीर बात सूत्र-रूप में प्रस्तुत करता चलता है और ये वाक्यांश भी परस्पर इतने सम्बन्धित हैं कि उनमें से कोई नहीं हटाया जा सकता। थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति शुक्ल जी के दैनिक जीवन में भी थी, अतः यदि वही प्रवृत्ति निबन्धों में भी दृष्टिगत होती है, तो आश्चर्य नहीं। इसी ने उनके निबन्धों को कसाव, गठन, अर्थसमपन्नता और सूत्र-शैली प्रदान की है। उदाहरण – राजदण्ड राजकोप है, राजकोप लोककोप है और लोककोप धर्मकोप है। इस वाक्य में तीन खण्ड हैं, तीनों ही सूत्र रूप में राजनीति औ धर्म का स्वरूप उपस्थित कर देते हैं। मनोविकारों के विवेचन, स्वरूप-निर्धारण, परिभाषा और उनके परस्पर भेद को बताते हुए भी वह पहले सूत्र-शैली का आश्रय लेते हैं।

'लाभ और प्रीति' निबन्ध के आरम्भ में लेखक लोभ की परिभाषा देता है – "किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के संबंध के मन की ऐसी स्थिति हो जिससे उस वस्तु के अभाव की

भावना होते ही, प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़, लोभ कहते हैं।" परिभाषा देने के बाद वह उसकी व्याख्या करते हैं। सरल और रोचक शैली में उस भाव को समझाते हैं-दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेनाचाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करकों लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं।

नोट्स

4.63 'संस्कृति और जातीयता'

डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध विचार प्रधान निबंध हैं उनमें विचारों की प्रधानता है।

डॉ. शर्मा कवि और आलोचक दोनों हैं उनके निबन्धों में कवि की भावुकता, लालित्य, कल्पना की उड़ान नहीं मिलते, उनमें उनका आलोचक और गंभीर चिन्तक, बहुपठित विद्वान और तर्कशील व्यक्तित्व ही अधिक झाँकता है। उनकी प्रतिभा विश्वकोशीय है। वह महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के निबन्ध-लेख हैं। उनके निबन्धों में न तो भारतेन्दु युग के निबन्धकारों की जिन्दादिली और व्यंग्यात्मकता मिलती है और न हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंडित विद्यानिवास मिश्र क निबन्धों का लालित्य। उनके निबन्धों के विशेष गुण हैं-गंभीरता, वैचारिक निष्ठा, अपनी बात को सरल, सुलझे और सहज ढंग से पसतुत करना। उनके व्यक्तित्व के प्रमुख निर्णायक तत्त्व रहे हैं-ग्रामणी पृष्ठभूमि, तुलसी आदि भक्त कवियों के साहित्य का संस्कार, राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रवादी विचारधारा, मार्क्सवादी और समाजवाद। उनके व्यक्तित्व की ये सभी विशेषताएँ उनके निबन्धों में प्रतिबिम्बित होती हैं। उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा के कारण वह भारत की एकता, अखण्डता की बात करते हैं, साम्राज्यवादी शासन और समांतवादी व्यवस्था का विरोध करते हैं, पूँजीवाद और शोषण के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान करते हैं। "जातीयताओं के विकास और उनकी पारस्परिक एकता के बिना न तो आजादी हासिल की जा सकती है और न ही उस आजादी की रक्षा की जा सकती है।" वह हिन्दी और उर्दू के सवाल को साम्राज्यवादी षड्यंत्र मानते हैं। आजादी के बाद भी विभिन्न प्रदेशों में भाषा, संस्कृति, जातीय मानसिकता के नाम पर वैमनस्य फैलाया जा रहा है। इस वैमनस्य को दूर कर, एकता स्थापित करने के लिए वह चिन्तित है और उनका सुझाव है कि विभिन्न जातियों, प्रदेशों की परस्पर एकता उनके उचित, अधिकार मानकर ही प्राप्त की जा सकती है। ... दूसरी भाषाओं और जातियों के अल्पसंख्कों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त जातियों का संघ बनकर अजेय होगा।

रामविलास जी की भाषा सीधी और सहज है। वह जटिल से जटिल बात को सुलझाकर कहते हैं। अतः उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। अधिकतर शब्दावली ऐसी है जो शिक्षित लोगों में प्रचलित है और जिसे समझने में पाठकों को अधिक कठिनाई नहीं होती। यथाअवसर वह दूसरी भाषाओं के शब्द का भी प्रयोग करते हैं। ऐसा करते समय वह इस बात का ध्यान रखते हैं कि इनके प्रयोग से हिन्दी की स्वाभाविक प्रकृति को किसी प्रकार की ठेस न पहुँचे।

4.64 रेखाचित्र और संस्मरण

सामान्य अर्थ में रेखाचित्र व्यक्ति के बाह्य रूप का चित्र होता है, जिसे द्वारा उसे व्यक्तित्व का आकलन किया जाता है। उसके शरीर और विभिन्न अंगों की बनावट उसके व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य देने वाले कुछ

नोट्स

कारक, ठाकस पहनावा और बातचीत के बीच उसके क्रियाकलाप आदि का चित्रण उसका एक ऐसा रेखाचित्र प्रस्तुत करता है, जो उनकी सीधी-सदी पोशाक और बातचीत में जारदार ठहाके उनकी एक स्थायी पहचान बन चुके है।

संस्मरण का मूल अर्थ है - सम्यक स्मृति, एक ऐसी स्मृति जो वर्तमान को अधिक सार्थक, समृद्ध और संवेदनशील बनाती है। संस्मरण मूलतः अतीत एवं वर्तमान के बीच एक सेतु है। यह एक संबंध - चेतना है जो एक तरफ स्मरणीय को आलोकित करती है तो दूसरी तरफ संस्मरणकार को भी अपने मूल्यांकन का अवसर देती है। समय की धंध में ओझल होती जिंदगी को पुनर्सृजित करने की आंतरिक आकांक्षा में ही संस्मरण के बीच निति होते हैं। संबंधों की आत्मीयता एवं स्मृति की परम्परता ही संस्मरण की रचना-प्रक्रिया का मूल आधार हैं संस्मरण में व्यक्ति एक सूचना नहीं होता, बल्कि वह जिंदगी के अनेक आवर्तों से लिपटा हुआ एक जीवंत अस्तित्व होता है। संस्मरण के मूल तत्त्व हैं - स्मृति, संबंधभाव, आत्मानुभव, और स्वयं को खोजने-हाचानने की ईमानदार कोशिश। स्मृति - यानी अतीत। स्मृति दरआसल अतीत की वर्तमानता की बोधक है। स्मृति का एक सिरा वर्तमान से बँधा होता है और दूसरा अतीत से। संस्मरण में रचनाकार अपने को भी प्रकाशित अथवा विज्ञापित करता चलता है। संस्मरण कल्पना के आध ार पर नहीं लिखे जा सकते। अतः आत्मीयता, अनुभव की प्रत्यक्षता एवं घटना तथा परिवेश की सत्यता - संस्मरण के मूलभूत आधार कहे जा सकते हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि महान् व्यक्तियों के ही संस्मरण लिखे जाते हैं जबकि सच यह है कि संस्मरण में व्यक्ति संबंध के कारण महत्त्वपूर्ण है, अपनी महानताओं के कारण नहीं। जो संबंध किसी भी स्तर पर लेखक की जिंदगी को अर्थ देता है, उसमें भराव या खालीपन पैदा करता है, वह संस्मरणीय हो सकता है।

अपनी प्रकृति में संस्मरण मूलतः विधा नहीं है। इसमें कहानी, निबंध, जीवनी, आत्मकथा और रेखाचित्र की अनेक विशेषताएँ संश्लिष्ट हैं। लेकिन प्रचुर लेखन एवं समृद्ध परंपरा ने संस्मरण को एक स्वतंत्र पहचान दी है और इस पहान के आधार पर ही उसने नयी गद्य-विधाओं में अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि ग्रहण की।

4.65 ठकुरी बाबा की तत्त्वों के आधार

यह रेखाचित्र पिछले रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक भावुकता-पूर्ण है। इसमें भी लेखिका ने ग्रामीण समाज को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। उन्होंने नागरिकों के साथ ग्रामीण

निर्धनों की तुलना करते हुए दिखाने का प्रयत्न किया है कि ग्रामीण लोग निर्धन होने के कारण बाह्य रूप से भले ही दीन हों पर उनका आन्तरिक जीवन उदात्त भावनाओं तथा सहृदयता से अति समृद्ध है। उन्हीं के शब्दों में - उनका बाह्य जीवन दीन है और हमारा अन्तर्जीवन रिक्त। उस समाज में विकृतियां व्यक्तिगत है, पर सद्भाव सामूहिक रहते है। इसके विपरीत हमारी दुर्बलताएँ समष्टिगत हैं, पर शक्ति वैयक्तिक मिलेगी। लेखिका उच्चकोटि की विद्वषी होने के साथ यूनिवर्सिटी की प्राध्यापिका होने से संभ्रान्त कहे जाने वाले वर्ग से सम्बन्धित है, लेकिन ज्ञान उनका बढ़ा-चढ़ा है। जैसा कि लेकिख ने लिखा है।

"इस विचित्र सम्मेलन का कार्यक्रम भी वैसा ही अनोखा था, कोई भजन सुनाता, कोई पौराणिक

कथा कहता। कभी किंवदन्तियों के नये भाष्य होते, कभी लोकचर्चा पर मौखिक टीकाएँ रची जातीं। कबीर की रहस्यमय उलटबांसियों से लेकर अच्छा बैल खरीदने के व्यावहारिक नियम तक सबमें उन ग्रामीणें की अच्छी गति थी, इसी से उनकी संगति न एक - रस जान पड़ती थी, न निरर्थक।"

वस्तुतः शहर के पढ़े लिखे लोग ग्रामीणों को अशिक्षित, असंस्कृत, स्वच्छता के नियमों से अपरिचित तथा सादा और मोटा खाने वाले मानकर उनकी संगति से हिचकिचातें है। कुछ अंहकार वश उनके साथ बात करने में भी अपनी हेठी समझते हैं। परन्तु उन लोगों के अन्तर की सहृदयता को जो कि आडम्बरपुण ि व बनावटी जीवन जीने वाले नागरिकों में प्राय : नहीं पायी जाती, नहीं समझ पाते। लेखिका उदारहृदय शिष्ट एवं समाजसेविका थीं, इसलिये उन्होंने उन ग्रामीणों को अपनी कुटी में न केवल आश्रय दिया बल्कि स्वयं उनसे घुलमिल गई। उनकी संगति में रहकर नया अनुभव पाया और उसे ही प्रस्तुत रेखाचित्र में लिपिबद्ध कर दिया। इसलिये इसे ठकुरी बाबा का संस्मरण क्या कहें, उस नये अुनभव का संस्मरण कहें तो कोई अनुचित न होगा।

पिछले रेखाचित्र की भाँति चरित्रों का बाहुल्य है। लेखिका ने उन सभी का कुछ-कुछ वृतान्त यहाँ दिय है। उनके व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया है, परन्तु आकृति-चित्र प्रमुख चरित्र ठकुरी बाबा का ही हैं शेष का हुआ भर है। इसका कारण यह है कि अन्य चरित्र ठाकुरी बाबा के संगी साथी होने के कारण चर्चा का विषय बने हैं लेखिका के अन्तम् को प्रभावित करने वाल चरित्र एक मात्र ठकुरी बाबा है जिनकी स्मृति उन्हें बाद में भी आन्दोलित करती है। इसलिये उन्हीं का चरित्र विस्तार से चित्रित हुआ है। पूर्व-वृतान्त के वर्णन में कथातत्त्व का अच्छा निर्वा हुआ हैं हाँ वर्तमान काल में किया गया वर्णन टिप्पणी के रूप में है जो लेखिका की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय भी देता है। वर्णन में पात्रों के प्रति लेखिका की करूणा तथा सहानुभूति सर्वत्र झलक रही है।

ठकुरी बाबा गाँ के सरल, भोले-भाले, परोपकारी, उदार व्यक्तियों में सें एक थे। उन्हें दूसरों का कष्ट दूर करने, विपन्न, गरीब, असहाय, बेसहारा लोगों की सहायता करने में सुख मिलता था। अतः वह स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों की भरसक सहायता करते थे, जानबूझ कर ठगे जाते थे, पर उस ठगे जाने में भी उन्हें अपार आनन्द मिलता था। इस आनन्द को पाने के लिए वह बार-बार ठगे जाते थे, दूसरों का उपकार करते रहे न उनकी सहृदयता कम हुई, न दान-वृत्ति और न सहायता देने का क्रम। वह कोमल हृदय, भावुक तथा दूसरों पर सहज ही विश्वास करने वाले, उनकी बात को सच मानकर उनकी सहायता करने वाले भावुक व्यक्ति थे। जब चिकारा हाथ में लेकर सूरदास की तरह भजन या भक्ति के पद गाते थे। मधुर स्वर में लोकगीत सुनाते थे, तो तन्मय हो जाते थे, सुध-बुध भूल जाते थे, संगीत के रंग में रंग जाते थे। दीन-दुनिया, अपना-पराया, घर-गृहस्थी की समस्याएँ सब भूल जाते थे। उनके चारित्रिक गुण - उदारता, परोपकार भावना, सौहार्द्र, सरलता, भोलापन कुछ समय पूर्व तक प्रायः गाँव के अधिकांश लोगां में मिलते थे। परन्तु नगरीय सभ्यता, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, धूर्तता, छल-कपट आदि देखकर इन भोले-भाले लोगों के स्वभाव और चरित्र में भी परिवर्तन आ गया है। ये भी पहले जैसे न रहकर छल-कपट, बेईमानी, जैसे अवगुण अपना रहे हैं। और अपने सहज गुण भूलते चले जा रहे हैं। इन निरीह, निस्पृह गाँववालों को इतना सताया गया है, इन्हें इतनी पीड़ा दी गयी है, इनके साथ इतना अन्याय हुआ है कि उसी प्रतिक्रिया

नोट्स

में वे अपने सहज, स्वाभाविक गुणों को भूल कर स्वार्थी, पैसे के पीछे भागने वाले, खुशामदी और छली-कपटी बनते जा रहे हैं। यह घोर पतन है, भविष्य के लिए खतरे की घण्टी है। हमारा समाज, देहाती समाज भी मानवता के रास्ते से भटक कर पशुता या दानवता के मार्ग पर चल रहा है। मानव सभ्यता, संस्कृत, मानवोचित, गुण सबका पतन हो रहा है, संस्कृति के स्थान पर अपसंस्कृति का विस्तार हो रहा है।

4.66 प्रेमचंद द्वारा रचित 'कलम का सिपाही'

प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के दो पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है जीवनी 'कलम का सिपाही' में उनका साहित्यकार रूप तथा उनका मनुष्य-रूप। हिन्दी साहित्य में वह उपन्यास-सम्राट, हिन्दी कथा-साहित्य को नयी शिक्षा देने वाले, प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति और प्रगतिशील लेखन को शक्ति देने वाले महान् लेखक माने जाते है। हिन्दी कथा-साहित्य को उन्होंने जिस प्रकार समृद्ध किया, वह युगान्तरकारी माना जाता है। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनका योगदान आविस्मरणीय है। अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्होंने 'हंस' और 'जागरण' पत्रों के प्रकाशित होने के लिए अथक प्रयास किये। मनुष्य के रूप में वह भारत के सरल, भोले-भाले परिश्रमी एवं निष्ठावान् ग्रामीणों के प्रतिनिधि थे। सरल जीवन तथा उच्च विचार सिद्धान्त की प्रतिमूर्ति प्रेमचन्द घर के छोटे-मोटे कार्य स्वयं करते थे, परिवारजनों के प्रति उनका अपार स्नेह था, परिजनों के दुःख दर्द में सदा शामिल होकर उन्हें राहत पहुँचाते रहे। उदार इतने थे कि जब भी रूपया हाथ आता, यह घरवालों की जरूरतें पूरा करने में देर न लगाते। 'अपने उपन्यास 'सेवासदन' पर फिल्म बनाने वालों ने' जब उन्हें साढ़े सात सौ रूपया भेजा, तो वह पूरी राशि दो-चार दिन में ही खर्च कर डाली। उन्होंने स्वयं लिखा था, मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गड्ढे तो है पर टीलों, पर्वतों घने जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डरों का कोई स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाडत्रें की सेर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।

सज्जन मानवतावादी थे, उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण मानव जाति का हित सर्वोपरि था। वह जाति

धर्म, सम्प्रदाय यहाँ तक कि राष्ट्रीयता को भी विश्ववंधुत्व के मार्ग में रोड़े समझ कर उनका विरोध करते रहे "राष्ट्रीयता वर्तमान का कोढ़ है। उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी।"

'कलम का सिपाही' - एक जीवनी है और जीवनी का शिल्प अत्यंत विशिष्ट होता है। यह एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन की कथा है लेकिन कथात्मक होते हुए भी उपन्यास की ाांति इसके पात्र कल्पना निर्मित नहीं है। सत्य घटनपाओं और तथ्यात्मकता का निर्वाह इसके लिए परमावश्यक है। अतः यहाँ लेखक तथ्यों से बधा रहता है, वह स्वेच्छा से न तो घटनाओं को बदल सकता है न मनचाहा मोड़ दे सकता है। साथ ही यह भी धी ध्यान रखना जरूरी है कि तथ्यात्मकता पर बल देते हुए भी यह कोरा इतिहास नहीं है उसमें कल्पना, भावानुभूति का भी योगदान रहता है। इस दृष्टि से जीवनी लेखन रचनाकार से विशिष्ट रचना सामर्थ्य का भी योगदान रहता है। इस दृष्टि से जीवनी लेखन रचनाकार से विशिष्ट रचना सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है। जीवनी लेखन एक प्रक्रिया है - जहाँ रचनाकार चरित नायक की जीवन यात्रा का सहचर बनकर पाठक का भी उसका सहभागी बनाता है। अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' की रचना द्व ारा भाषा और शिल्प पर अपनी पकड़ को सिद्ध कर दिया है लेखक ने कथात्मक शैली में प्रेमचन्द के

जीवन की घटनाओं का क्रमबद्ध संयोजन किया है।

नोट्स

मुंशी प्रेमचंद के चरित्र को समग्रता से प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने उसके चरित्र के मुख्यत: दो पक्षों को उजागर किया है। एक उनका निजी व्यक्तिगत पक्ष जहाँ वे बराबर अर्थाभाव से जूझते, छोटी-छोटी पारिवारिक परेशानियों मतें फंसे दिखाई पड़ते हैं तो उनके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष सामाजिक – राष्ट्रीय उत्थान के लिए संकल्पबद्ध नजर आता है। चरित्र चित्रण के लिए लेखक ने जो शैली अपनाई है उसमें प्रेमचंद के लंबे-लंबे वक्तयों के उद्धरण हैं और बीच-बीच में उन पर लेखक की अपनी टिप्पणियाँ है।

4.67 आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'

हिंदी आत्मकथा के इतिहास में क्या भूलूँ क्या याद करूँ का विशेष महत्त्व है। साहित्य में बच्चन की पहचान 'मधुशाला' के कवि के रूप मं अधिक है और इस बात की बार-बार चर्चा होती है कि इसकी रचना की प्रेरणा उन्हें उमर खैय्याम की रूबाइयों के साथ-साथ वास्तविक जीवन की उन घटनाओं से भी मिली थी जिसे उन्होंने भोगा और महसूस किया था।

किसी भी कृति या रचना में लेखक के विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह एक तरह से लेखक की सामाजिक दृष्टि और रचना के स्थायी होने का प्रमाण भी होती है। क्या भूलूँ क्या याद करूँ में लेखक ने व्यक्ति, समाज धर्म, दर्शन, लेखन आदि से जुड़े अनेक मुद्दों पर गंभीरता से विचार किया है।

गंभीरता साहित्य की परंपरा और मनुष्य समाज की जिंदगी में प्रत्येक रचना की अपनी एक अलग महत्ता और उपयोगिता होती है। बच्चन के जिस कवि व्यक्तित्व से आज पूरा हिंदी संसार परिचित है – उसका स्रोत इस आत्मकथात्मक कृति में आसानी से ढूँढा जा सकता है। इसलिए इस आत्मकथात्मक कृति को पढ़ने का अर्थ एक रचना का आस्वादन करना ही नहीं है, बल्कि उन मार्मिक स्थितियों से गुजरना भी है जिसके कारण बच्चन के रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है और 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'निशा' निमंत्रण जैसी काव्य-कतियाँ रची जाती है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ स्पष्ट: बतलाती है कि इसे पढ़ने का अर्थ लेखक के बचपन से लेकर पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु तक के जीवन क्रम को जानना ही नहीं, अपितु उस समय के समाज को समझना भी है, जब भारत में जातिवादी और धार्मिक संस्थाएँ मजबूत थीं, सामाजिक जिंदगी में उनका बोलबाला था और तत्कालीन ब्रिटिश साम्रज्यवाद उनके सहयोग से शासन और दमन के रास्ते पर बढ़ रहा था।

यह आत्मकथा के प्रथम भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' से उद्धृत किया गया है। अपने जीवन के आरंभिक तीस वर्षों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए लेखक अपनी नवविवाहिता पत्नी श्यामा के स्वभाव तथा अन्य चारित्रिक विशेषताओं के विषय में बड़ी आत्मीयतापूर्ण शैली में, भाव-विभोर होकर बताता है।

श्यामा मेरे विषम में सब-कुछ जानती थी। मेरे स्वभाव, मेरे गुण-दोष सभी से परिचित थीं। उसको मेरे अतीत की पूरी जानकारी थी कि मैंने बचपन से लेकर अब तक अपना सारा जीवन अनेक कष्टों, क्लेशों, पीड़ाओं में बिताया हैं आर्थिक कठिनाइयों से जूझते हुए सारी शक्ति खर्च की है। उसे यह भी ज्ञात था कि अभी मुसीबत के दिन बीते नहीं हैं। विवाह के बाद भी मुझे कठिन परिश्रम करना पड़ रहा था।

नोट्स

अजीविका के लिए, घर-गृहस्थी चलाने के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ रही थी, खून-पसीना बहाना पड़ रहा था। इस प्रकार मेरा जीवन कष्ट-द्वेप पीड़ा, वेदना की गाथा बन गया था। निकट भविष्य में भी हालात सुधरने की कोई आशा नहीं थी। लगता था सारी जिन्दगी कष्टों-क्लेशों-अभावों में ही बीतेगी। इसी सबको देखकर, अनुभव कर, समझ कर उसने मेरा नाम सफरिंग अर्थात् मुर्तिमान वेदना रख दिया था। वह एकांत में मुझे इसी नाम से पुकारती है, इस बात का ज्ञान किसी और को न था। वह मेरे और उसके बीच का गोपनीय रहस्य था। मैंने भी उसको नया नाम दिया था जॉय। मेरा नाम मेरे विषद का परिचायक था, ता मेरा दिया गया उसका नाम उसकी मूल प्रकृति का द्योतक था, क्योंकि वह सदा प्रफूल्ल रहती थी और जो भी उसके सम्पर्क में आता, सुख और आनन्द की अनुभूति करता था।

4.68 'किन्नर देश की ओर' की शैली और भाषागत विशेषता

यात्रा-वृत्तांत जितना अपने कथ्य में नवीन होता है, उतना ही अपने रूप विधान में भी। लेकिन यात्रा-वृत्तांत इतर विधा के तत्त्वों का उपयोग अत्यंत प्रत्यक्ष और मुखर रूप में करती है। इसीलिए उसका आधार तो यात्रा है लेकिन उसके अभिव्यक्ति के तमाम साधन दूसरी विधाओं के श्रेष्ठ गुणों से निर्मित होते हैं। यात्रा-वृत्तांत की शैलीगत विशिष्टता में औपन्यासिक कथा तत्त्व, अतीत की यादें और वर्तमान का आख्यान और ज्ञान कोश का विवरण सभी कुछ पाया जा सकता है। राहुल सांकृत्यान के यात्रा-वृत्तांतों में तो ये विशेषताएँ खासतौर पर देखी जा सकती हैं।

राहुल के अन्य यात्रा-वृत्तांतों की तरह यहाँ भी वर्तमान के वर्णन की शैली अपनाई गई है। उसे पढत्ते हुए यह लगता है कि हम भी उनके साथ-साथ यात्रा कर रहे हैं क्योंकि यह वर्णन पहाड़ी यात्रा का है इसलिए उसमें शैली का प्रवाह भी पहाड़ी नदी जैसा ही है।

यही कारण है कि उसके पास अनावश्यक विवरणों के लिए समय नहीं है। थोड़े से समय मं लम्वी यात्रा पूरी करनी है और गंतव्य तक पहुँचना उदाहरण के लिए रामपुर से गौरा तक की नौमील की यात्रा केवल दो वाक्यों में पूरी कर ली गई। इस तरह यह वृत्तांत अनावश्यक पुनरावृत्तियों से बचता हुआ यात्रा की गति के साथ ही अग्रसर होता जाता है।

इस वृत्तांत में यात्रा-वृत्तांतों में अपनाई जाने वाली प्रायः सभी शैलियों का उपयोग लेखक ने किया है।

यह कहने की अलग से आवश्यकता नहीं है कि राहुल यात्रा के पूरे पंथ का वर्णन चित्रात्मक शैली में करते हैं।

4.69 'अदम्य जीवन' की शिल्पगत विशेषता

अदम्य जीवन की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. लेखक किसी वास्तविक घटना और उससे उत्पन्न स्थिति का आँखों देखा, यथाकथ्य, प्रामाणिक वर्णन करता है। वह प्रत्येक दृष्टा होने के साथ-साथ सहभोक्ता भी होता है। उसमें घटनात्मकता होती है, वस्तुगत सत्य होता है।
2. वह देखे हुए और भोगे हुए यथार्थ का तटस्थ और निरपेक्ष होकर चित्रण नहीं करता, अपितु उसके वर्णन-चित्रण में उसके हृदय का आवेग, कहीं करुणा, कहीं आक्रोश, तो कहीं विद्रोह

का भाव होता है। संवेदनशीलता रिपोर्ताज का मुख्य लक्षण है। यत्र-तत्र लेखक अपने विचार, अपनी जीवन-दृष्टि भी प्रस्तुत करता है।

3. रिपोर्ताज में सजीव ब्योरेवार चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। इन शब्द-चित्रों को पढ़ते समय पाठक के नेत्रों के सम्मुख सारा दृश्य, सारी स्थिति साकार, सजीव, प्राणवान होकर उभरने लगती है।
4. उसमें कथा-तत्त्व भी होता है।
5. इसमें कष्ट-पीड़ित, शोषित, जीवन के लिए संघर्ष व्यक्तियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का भी वर्णन किया जाता है। उनमें लोभ, आक्रोश, पीड़ा और विद्रोह भावना का भी अंकन होता है।
6. वह केवल वर्तमान की बात नहीं करता, अपितु वर्तमान की साक्षात्कार नहीं करता, उसका वर्तमान भूत और भविष्य से कटा नहीं होता। वह अतीत को अनावृत्त करता है तथा भविष्य की ओर संकेत करता है।

रांगेय राघव के 1942 में बंगाल के आकाल पर लिखे गये रिपोर्ताज 'अदम्य जीवन' से लिया गया है। आगरा से अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए एक दल भेजा गया। उसमें एक डॉक्टर भी था और लेखक स्वयं भी। वे शिद्धिरगंज नामक बाँव पहुँचे। उस गाँव के एक सिरे दूसरे सिरे तक अकाल में भूख से तड़प-तड़प कर प्राण देने वाले स्त्री-पुरूषों, बच्चे-बूढ़ों की कब्रें ही कब्रें थीं। अकाल समाप्त हो चुका था और जो लोग उस विभीषिका से बच गये थे, वे अपने-अपने काम में लगे थे, पुनर्निर्माण का कार्य कर रहे थे। गाँववालों के इस साहस, सहिष्णुता, जीने की अदम्य इच्छा हो देखकर लेखक कहता है।

बंगाल का इतिहास विदेशी, क्रूर, नृशंस आततायियों के आक्रमणों का वीभत्स लेखा-जोखा है। समय-समय पर हजारों वर्षों से आक्रान्त इस पवित्र, शोभा की खान, हरी-भरी उपजाऊ भूमि पर आक्रमण करते रहे हैं। यहाँ की सम्पत्ति को ध्वस्त करतें रहे हैं, लूटपाट करते रहे। हैं। उन्होंने यहाँ का धन-वैभव ही नहीं लूटा, यहाँ की संस्कृति को भी विनष्ट करना चाहा, क्योंकि किसी देश की संस्कृति ही उसके प्राणों का स्पन्दन, दिल की धड़कन होती है। उसके नष्ट होने पर वह दीश, वह जाति मर जाती है। परन्तु बंगाल के लोगों ने इन आक्रमणों का, रक्तपात का, विध्वंस का, लूटपाट का बड़े साहस, बड़ी वीरता, बड़े धैर्य से सामना किया और अपनी संस्कृति पर आँच नहीं आने दी। इतिहास साक्षी है कि इन सब विनाशकारी आक्रमणों के बाद भी हजारों-लाखों प्रियजनों, वधु-बान्धवों, मित्रों-सहयोगियों को खोकर भी गाँववाले पुनर्निर्माण के कार्य में जुटे थे।

4.70 'ऑक्टेवियो पॉज' नामक साक्षात्कार

ऑक्टेवियो पॉज लैटिन अमेरिका के सुप्रसिद्ध कवि, कला-प्रेमी, काव्य-चिन्तक और गंभीर विचारक हैं। उन्होंने अनेकानेक काव्यालोचकों, कला-आन्दोलनों, राजनीतिक उथल-पुथल को निकट से देखा और उनका आकलन किया। कला-चिन्तन, दर्शन धर्म, विज्ञान, मनोविज्ञान और राजनीति में उनकी गहरी रुचि रही हैं वह मैक्सिकों के राजदूत बनकर 1962-1968 तक भारत में रहे भी। कवि के रूप में जाने जाते हैं। और उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है तथा उनके बीस से अधिक निबन्ध - संग्रह प्रकाशित

नोट्स

हो चुके है। वह बहुचर्चित हैं - इन्होंने यूरोप के विभिन्न देशों-फ्राँस, जर्मनी, रूस के साहित्य का गहन अध्ययन किया हैं भारत के धर्म, दर्शन और संगीत और कलाओं से भली-भाँति परिचित हैं। वह कहते हैं, "मुझे भारत में सबसे अधिक उसकी कला-परम्पराओं ने प्रभावित किया। मुझ पर तीन कला-पद्धतियों ने गहरी छाप छोड़ी-मथुरा का बौद्ध शिल्प, महाबलिपुरम का मंदिर तथा कार्ल की गुफाएँ।...यहाँ की लोक-कला की परम्पराएँ बहुत महान् है।" उनका समृद्ध सांस्कृतिक व्यक्तित्व एवं मानव गरिमा की प्रतिष्ठा की उनकी चिन्ता देख उनके विचार मनन योग्य हैं।

4.71 व्यंग्य निबन्धकार की दृष्टि से हरिशंकर परसाई

हिन्दी निबन्ध का जन्म पत्र-पत्रिकाओं के सथा भारतेन्दु युग में हुआ। इन काल के निबन्धों में राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना जगाने तथा भावान्दोंलन करने के लिए लिखे गए थे। उनमें से विचार पक्ष गौण तथा भाव प्रधान थे। अतः इन्हें भावात्मक निबन्यध कहा जाता है। डॉ रामविलास शर्मा के निबन्धों का विषय राज़नीतिक, इतिहास, संस्कृति, समाज, जातीय चेताना, भाषा साहित्य की समीक्षा रहा है। अतः उनके निबन्धों के विचार की प्रधानता रही है। ललित निबन्धों प्रणय सर्वप्राथ आचार्य हैं, काव्यात्मकता है, कल्पान की उड़ान हैं, पक्कड़पन हैं, उनमुक्तता, स्वच्छन्दता और व्यक्तित्व का प्रकाशन है, भावों का प्रवाह है। इन सबसे भिन्न निबन्ध को नया स्वरूप नया तेवर दिया हैं हरिशंकर परसाई तथा शदय जैशी ने। इनके निबन्धों को वयंग्य निबन्ध कहा गया है। व्यग्य निबन्धों को स्वतंत्र विधा दिलाने को श्रेय हरिशंकर परसाई को दिया जाता है। व्यंग्य निबन्धों मे न तो विचारों की बोझिलता होती हैं, न भावनाओं की ऊहापोह। इसमें व्यंग्य लेखक की शैली मात्र न होकर स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। रचना में व्यंग्य का जन्म देश और समाज में व्याप्त सिंगतियों, अन्तविराधो, असामंजस्य की पहचान तथा इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है। लेखक जब इन विसंगतियों, विषमतओं, विमडमबनाओं को देखकर मुग्ध होता है। लेखक जव इस पीड़ा का अनुभव करता है तो उनके कारणों को पहचानने के कोशिश करता है, पहचानने के बाद वह उनका उद्घाटन करता है और इसकी प्रक्रिया के दौरान वह उनकी संस्थाओं, व्यक्तियों, वर्ग, समूहों पर कटक्ष करता है। उसकी कमजोरियों, ढांग, बेईमानी, दुर्व्यसन, करनी-कथनी में अन्तर आदि की बखिया उधेड़ता है। उनका पर्दाफाश करता हैं। उनमें नई चेतना जगाता है, विद्रोह करने का आह्वान करता है। लेखक का आक्रोश ही व्यंग्य के रूप में फूट पड़ता है।

पहचान तथा इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है। लोक जब इन विसंगतियों, विषमताओं, विडम्बनाओं को देखकर मुग्ध होता है। लेखक जब इस पीड़ा का अनुभव करता है तो उसके कारणों को पहचाननने की कोशिश करता हैं, पहचाने के बाद वह उसका उद्घाटन करता है। और इसी प्रक्रिया के दौरान वह उनकी संस्थाओं, व्यक्तियों, वर्ग, समूह पर कटाक्ष करता है, उनकी कमजोरियों, ढोंग, बेईमानी, दुर्व्यसन, करनी-कथानी में अन्तर आदि की बखिया उधोड़ता हैं उनका पर्दाफाश करता है, उनमें नई चेतना जगाता है। विद्रोह करने का आह्वान करता है। लेखक का आक्रोश ही व्यंग्य के रूप में फूट पड़ता है।

सच्चा व्यंग्य जीवन कीसमीक्षा होता हैं। वह जीवन में व्याप्त विध्याचार, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, ढोंग, असामंजस्य ओर अवसाद को चुटीकी पैदा करता है औरन लड़ने की प्रेरणा देता है। हरिशंकर परसाई

नोट्स

अपने निबन्धों के विषय में लिखते है कि "मैंने देखा है कि जीवन में बेहद विसंगतियाँक है, पाखण्ड, भूल, दोमुँहापन, अवसरावाद, असामांजस्य आदि.... साथ ही यह विवेदा पैदा हुआ कि किस पर मैंने चोट करनी हैं।"

हरिशंकर परसाई का व्यंग्य निबन्ध 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेव' स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद की मध्यमवर्गीय मानसिकता तथा बुद्धजीवियों की स्वार्थपरकता, उनकी कथनी-करनी में अन्तर, समाज और देश के प्रति उनके उत्तरदायित्व के न निभकार पद- प्रठिष्ट, धन के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति का पर्दाफासश कर उन पर कार व्यंग्य करता है उनका ध्यान देश की अन्य समस्याओं-दहेज प्रथा, युवकों में बेरोजगारी, राजनेताओं तथा पूँजीपतियों की, अफसरों तथा राजनेताओं की साँठ-गाँठ विश्वविद्यायें में निहित स्वथा। महँगाई, काला बाजारी आदि पर भी गया हैं औन उनका वभन्त्स स्वरूप दिखाकर पाठकों को सचेत सवधान भी किया हैं। उप्रत्यक्ष रूप से विद्रोह-क्रान्ति करने का आह्वान भी किया हैं। अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से यह एक सफल व्यंग्य निबन्ध हैं। लेखकर ने स्थितियों, घटनाओं को यथार्थ चित्रण किया हैं, छद्म, छल-कपट बेईमानी को पहचाना हैं और कही सीधेसहज आत्मीय वातावरण में उसे पर प्रहार किया हैं। तो कहीं तिमिला देने वाली तीखी चोट हैं।

4.72 जीवनी और आत्मकथा की तुलना

जीवनी चरित नायक के जीवन की घटनाओं का कालक्रम से शुप्क ब्यौरा मात्रा नहीं होता है। जीवनी लेखक नायक के जीवनी और व्यक्तित्व की हर स्तर पर खोज करता है जीवन का पुनर्रचना ही उसकी कला की शाक्ति होती है वह नायक के बाह्य और आंतरकि जीवन का कलात्मक विश्लेपण और अनुसंध ाान करता है। तथा अपनी अनुभूतियों के सौन्दर्य में विक्षेपण करता है सफल जीवनी लेखन के लिए विवकपूर्ण चयल आवश्यक है। उसमें एक ओर अनर्गल, अनावश्यक बातो को छोड़ जाता है दूसरी ओर धान रखाना पड़ता है कि कोई महत्त्वपूर्ण घटना को प्रयोग छूट न जाएउ।

जीवनी समान्य पाठक, शोधकर्त्ताओं तथा समाज के लिए कई दृष्टियों से लाभदास होती है। वह सामान्य पाठक को नायाक के जीवन की घटनाओं के विष्या में जानकारी देती है, उनके व्यक्तित्व के उन पहलुओं पर प्रकाश डालती है जो या तो अपरिचित होते है। या परिचित। शिवरानी देवी द्वार लिखी गई जीवनी 'प्रेमचन्द घर' में पढ़कर हम प्रेमचन्द के जीवन की उनके घटनाओं और उनके व्यक्तित्व के उन पहलुओं का परिचय प्राप्त करते है जिनसे सामान्य व्यक्ति अपरिचित है। यह जीवनी उनकी पत्नी द्वारा लिखि गई है, अतः प्रमाणित है और नायक के घरेलू जीवन, परिवारिक सम्बंधों, उनके दैनिक कार्यक्रम का सच्चा चित्र प्रस्तुत करती है।

जीवनी लेखक का उद्देश्य, घटनाओं का विवरणमात्र देना नहीं होता है वह तो उन घटनाओं के आलोक में नायक के व्यक्तित्व के विभन्न पक्षों को उजागर करने का प्रसास करता है प्रेमचन्द के पुत्र अमृतराय द्वारा लिखी गई जीवनी 'कलम का सिपाई' इस राष्ट्रय से उल्लेखनीय रचान ह। ऐसी रचनाओं को पढ़ पाठक को मान्व- मान्न और आत्मविश्लेशन करने के लिए प्रेरणा मिलती है।

नोट्स

आत्मकथा जीवनी साहित्य का जीवनी से भी महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वह जीवनी से अधिक प्रामाणिक होती है क्योंकि लेखक स्वंय अपने विषय में जिना जानता हैं उतना दूसरा नहीं जान सकता है। आत्मकथा लिखना तलवार की धार पर चलने के समान है क्योंकि उस आतम श्लाघा से बचना होता है एवं अपने दोषों, दुर्बलताओं के उजागर भी करना होता है। उसकी भूमिका दोहरी होती है उसे एक सथा आलोचक भी होना पड़ता है और आलोच्य भी इसमें लेखक आत्मनिरीक्षण तथा आत्मविश्लेषण के द्वारा अपने जीवन की पुनर्रचना करता है। अंतरंग जीवनी और चरित्र की सच्ची पेश करता है। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने अपनी आत्मकथा में व्यक्तिगत जीवील के दुख-दुख साहित्यि अभिसर्ध और साहित्य साधना का विवण दिया है। इसी प्रकार राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवनी यात्रा' पढ़कर पाठक को उनकी यायावरी वृत्ति, उनकी लगन विद्याव्यसन आर विद्रोही स्वभाव निर्माण में कौन-कौन सी स्थितियां साण्न हैं या बाधक है या बाधक रही है।

4.73 निष्कर्ष

संस्कृत में 'प्रबंध', 'निबंध' आदि का प्रचलन था, लेकिन हिंदी निबंध का स्वरूप अंग्रेजी के 'एस्से' के आधार पर निर्मित हुआ। 'निबंध' हिंदी गद्य साहित्य का एक आधुनिक रूप है। इस विधा के उद्‌भव के लिए गद्य को एक परिनिष्ठित रूप प्राप्त करना होता है। यद्यपि राजस्थानी गद्य, अवधी गद्य, ब्रजभाषा गद्य, मैथिली गद्य, दक्खिनी खड़ीबोली गद्य तथा खड़ीबोली गद्य के रूप प्राचीन हिंदी साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक व्याप्त थे तथापि यूरोपीय निबंध साहित्य से परिचित होने के बाद हिंदी में निबंध लेखन की शुरुआत हुई। यूरोपीय पुनर्जागरण और भारतीय नवजागरण दोनों के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि जनजागरण के काल में ही निबंध जैसी गंभीर और महत्त्वपूर्ण विधा का उदय होता है। वैश्विक तथा भारतीय संदर्भ में निबंधों के विषय समय और समाज की आवश्यकता के अनुसार बदलते रहे। प्रेस की स्थापना, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन, अनुवाद आदि से हिंदी निबंध को नई गति और दिशा प्राप्त हुई। निबंध साहित्य में निजी अनुभवों की प्रामाणिक और विश्वसनीय अभिव्यक्ति को महत्त्व मिला। स्वतंत्रता, मातृभाषा प्रेम, समाज सुधार, जनविरोधी सत्ता को चुनौती, भारतीय जीवन मूल्यों के प्रति प्रेम, जनचेतना का आग्रह, स्त्री-शिक्षा का समर्थन, अंधविश्वास, छुआछूत, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, जाति-भेद आदि का विरोध जैसे सरोकार हिंदी निबंध के प्रारंभिक काल में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके युग के तमाम निबंधकार जागरुक थे। उन्होंने हिंदी नवजागरण के प्रचार तथा प्रसार हेतु अकलांत परिश्रम किया। उनकी दूरदर्शिता ने हिंदी जाति को नवजागरण की चेतना से संपन्न किया है। इस दौर के निबंधकारों की सबसे बड़ी शक्ति उनकी व्यंग्यात्मक शैली है। इससे ब्रिटिश उपनिवेशवादी शक्ति को उन्होंने कहीं ललकारा है तो कहीं भारतवर्ष की उन्नति के लिए आग्रह किया है। उन्होंने कहीं-कहीं आततायी सत्ता को सावधान भी किया है।

अब यदि हम आकलन करें तो देखते हैं कि भारतेंदुयुगीन निबंधकार अपनी प्राचीन परंपरा से जुड़ने के साथ-साथ अपने विचारों को जनता के साथ भी जोड़ते हैं। राष्ट्रीय नवजागरण के सभी आयामों- समाज सुधार, धर्म संबंधी सुधार, नारी चेतना, देश भक्ति, राष्ट्रीय चेतना को रचना का विषय बनाते हैं।

अंग्रेजी राज की साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी मानसिकता को समझते हुए उसका पुरजोर विरोध करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि नवजागरण के विकास में भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके समसामयिक निबंधकारों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसे निबंधकार और गद्य शैलीकार हैं जिन्होंने निबन्ध लिखकर हिंदी-समाज को न केवल ज्ञान समृद्ध किया बल्कि उसका नवजारण भी किया। उनका समस्त साहित्य ही यद्यपि नवजागरण का साहित्य है तथापि निबन्ध साहित्य इस मामले में कुछ भिन्न और विशिष्ट तरह का है। उसका सम्बन्ध सीधे हमारे जीवन की मनोवैज्ञानिक जरूरतों से है। वे हिंदी में निबंध लिखकर एक जरूरत को पूरा करते हुए जीवन में एक नया अध्याय जोड़ते हैं। वे आधुनिक विवेक और वैज्ञानिकता का समावेश निबन्ध के माध्यम से करते हैं। उनका योगदान तब और ज्यादा समझ में आयेगा, जब गंभीरता से जीवन सम्बन्धों को समझने के लिए उद्योग किया जाएगा।

द्विवेदी अपने निबंधों में भारतीय संस्कृति का अद्‌भुत विवरण प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदी के निबंधों की दृष्टि मानवतावादी दृष्टि है और वे मनुष्य की महान परम्परा के हिमायती भी नजर आते हैं। उनके निबंधों में एक अपनापन दिखाई पड़ता है और यही विशेषता पाठकों को बांधे रखती है। उनके ललित निबंध बेजोड़ हैं और हिंदी साहित्य जगत में हमेशा पठनीय रहेगें। अंत में इस बात को कहने में कोई हर्ज नहीं है कि साहित्यकार के रूप में द्विवेदी जी की उपस्थिति से हिंदी साहित्य भारतीय और विश्व साहित्य में सदैव सम्मान का अधिकारी रहेगा।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि विद्यानिवास मिश्र जी के व्यक्तिनिष्ठ, व्यक्ति व्यंजक अथवा ललित निबंध एक तरफ अपने लालित्य को संजोये हुए लोकजीवन की मधुर झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं और निबंधों में काव्यात्मकता का रसास्वादन कराते हैं, वहीं वैचारिक निबंध गंभीरता की तरफ संकेत करते हैं। मिश्र जी संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध रहे इसलिए उनके निबंधों में भारतीय शास्त्रों और लोक में रची-बसी दैवीय शक्तियों की चर्चा मिलती है। भारतीय संकृति के पुजारी विद्यानिवास मिश्र ने अपने निबंधों में मिथकों की चर्चा बड़ी सजगता से की है। भावनिर्धारण तथा भावाभिव्यक्ति और अर्थग्रहण के सुगमता की जो क्षमता इन निबंधों के मिथकों में दिखाई देती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीनता और आधुनिकता का सुंदर समन्वय इन निबंधों में दर्शनीय है। इसलिए मिश्र जी को ललित निबंध परंपरा का समर्पित और सर्वश्रेष्ठ विद्वान कहना उचित होगा।

4.74 अभ्यास प्रश्न

1. नवजागरण के क्या प्रभाव हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना कब हुई, संक्षेप में लिखिए।
3. पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन पर लेख लिखिए।
4. नवजागरण क्या है? इसका सामान्य परिचय दीजिए।
5. भारतेंदु युगीन निबंधों में नवजागरण स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
6. नारी चेतना पर नोट लिखिए।

7. देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना से क्या तात्पर्य है? विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।
8. आचार्य शुक्ल निबन्ध साहित्य से आप क्या समझते हैं? समझाइये।
9. निवन्ध साहित्य की परिस्थितियाँ एवं विशेषताएँ क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।
10. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध साहित्य पर लेख लिखिए।
11. आचार्य द्विवेदी के निबंधों में लालित्य तत्व का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।
12. आचार्य द्विवेदी के निबंधों में सांस्कृतिक तत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
13. ललित निबंध की विकास यात्रा को समझाइये।
14. पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों पर संक्षिप्त नोट लिखिए।

4.75 संदर्भ पुस्तकें

- वर्मा, डॉ. धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 और भाग-2. वाराणसी : ज्ञानमण्डल प्रकाशन
- डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन तिवारी,
- डॉ. रामचन्द्र. हिन्दी का गद्य-साहित्य, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
- चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन
- गुप्त, गणपतिचन्द्र. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (द्वितीय भाग), इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन
- डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
- तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन